भारत का संविधान

शासन और हम

भारत के संविधान के अनुच्छेद 5क के अनुसार

भारत के प्रत्येक नागरिक के मूल कर्तव्य

- *संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे;*
- *स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में सँजोए रखे और उनका पालन करे;*
- *भारत की प्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण रखे;*
- *देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे;*
- *भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हों;*
- *हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्व समझे और उसका परिरक्षण करे;*
- *प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणी मात्र के प्रति दयाभाव रखे;*
- *वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे;*
- *सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे;*
- *व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत प्रयास करे जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊँचाइयों को छू ले।*

भारत का संविधान

शासन और हम

सुभाष काश्यप

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण
जनवरी 2001
माघ 1922

PD 1.5T MK

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन प्रभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैम्पस	108, 100 फीट रोड, होस्डेकेरे	नवजीवन ट्रस्ट भवन	सी.डब्ल्यू.सी. कैम्पस
श्री अरविंद मार्ग	हेली एक्सटेंशन, बनाशंकरी III इस्टेज	डाकघर नवजीवन	32, बी.टी. रोड, सुखचर
नई दिल्ली 110016	**बैंगलूर 560085**	**अहमदाबाद 380014**	**24 परगना 743179**

रु. 147.00

OD

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा सुविधा कंप्यूटर्स, 86-ए, अधचिनी, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110 017 में लेज़र टाइपसैट होकर इम्प्रेस ऑफसेट, ई-17, सेक्टर-7, नोएडा 201 301 द्वारा मुद्रित।

प्राक्कथन

भारत का संविधान सुदीर्घ स्वाधीनता संग्राम के दौरान मुखरित देश के लोगों की सुस्पष्ट आकांक्षाओं का मूर्त स्वरूप है। यह संविधान लोगों की इस प्रभुता-सम्पन्न इच्छा शक्ति को व्यक्त करता है कि स्वाधीन नागरिकों के रूप में अपना शासन वे कैसे चलाएंगे और अपना भाग्य-नियंता बनने में कौन से ध्येय और आदर्श उनका मार्गदर्शन करेंगे। संविधान को हमारे राष्ट्र की 'आधारशिला' कहा गया है। इसका ज्ञान और समझ प्रत्येक व्यक्ति की नागरिक शिक्षा का अनिवार्य अंग होना चाहिए जिसे प्रोन्नत करना सभी प्रकार के शैक्षिक कार्यक्रमों का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य माना गया है। संविधान के अनुच्छेद 51क की धारा एक के अनुसार 'संविधान का अनुपालन तथा इसके आदर्शों तथा संस्थाओं का आदर करना' प्रत्येक भारतीय नागरिक का मौलिक कर्तव्य है।

इस पुस्तिका को भारतीय संविधान के एक अनन्य विशेषज्ञ डा. सुभाष काश्यप ने तैयार किया है जो लोक सभा के पूर्व महासचिव हैं। पुस्तिका में डा. काश्यप ने संविधान के कई पहलुओं की न केवल व्याख्या की है वरन् कुछ ऐसे बिंदुओं पर भी प्रकाश डाला है जो बताते हैं कि अर्द्ध-शताब्दी पूर्व लागू हुए इस संविधान का समय के साथ-साथ कैसे कार्यान्वयन हुआ। डा. काश्यप भारत सरकार द्वारा देश के नागरिकों को मौलिक कर्तव्यों के शिक्षण संबंधी सुझावों के प्रचालन हेतु गठित समिति के एक सदस्य भी रहे हैं, अतः उन्होंने संविधान के इस भाग पर विशेष बल दिया है क्योंकि इस पर विद्यार्थियों के लिए पाठ्यचर्या सामग्री में सामान्य रूप से समुचित ध्यान नहीं दिया गया है। यह पुस्तिका संविधान का अद्यतन लेखा-जोखा प्रस्तुत करती है और इसकी पुनरीक्षा संबंधी हाल ही में हुए विचार-विमर्शों पर भी ध्यान केंद्रित करती है। मैं डा. काश्यप का आभारी हूँ कि उन्होंने हमारे आग्रह पर एन.सी.ई.आर.टी के लिए बहुत कम समय में यह पुस्तिका तैयार की।

यद्यपि यह पुस्तिका विशेष रूप से विद्यालयों की उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए तैयार की गई है तथापि अध्यापकों तथा सामान्य पाठकों के लिए भी यह उपयोगी सिद्ध होगी। आशा है कि यह पुस्तिका पाठकों की संविधान की समझ तथा उसके कार्यकरण की जानकारी को समृद्ध करेगी। साथ ही, हमारे लोकतंत्र को सुदृढ़ करने के लिए आवश्यक सक्रिय तथा उत्तरदायित्वपूर्ण नागरिकता को बढ़ाने में सहायक होगी।

जगमोहन सिंह राजपूत

निदेशक

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान

और प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली

26 जनवरी 2001

आमुख

हम एक स्वाधीन देश के स्वाधीन नागरिक हैं। हमने अपने को एक लोकतंत्रात्मक संविधान दिया है। स्वाधीनता और लोकतंत्र सतत सतर्कता माँगते हैं। इन्हें सुरक्षित रखने के लिए देश की शासन प्रक्रिया में जनता की सक्रिय भागीदारी अत्यंत आवश्यक है।

हमें समझना होगा कि हमारा संविधान क्या है, कैसे चलता है। उसके अंतर्गत हम कैसे शासित होते हैं। हमारे सांविधानिक अधिकार और दायित्व क्या हैं। जो लोग अपने देश के संविधान को नहीं जानते-समझते, उनकी स्वाधीनता और लोकतंत्र लोप हो जाते हैं।

हम, भारत के लोगों को लोकतंत्र की सफलता के लिए शिक्षा की ज़रूरत है। हमें लोकतंत्र के सिद्धांतों में भी शिक्षित होना होगा। भारत का संविधान हमारे लोकतंत्र की पतवार है और नागरिक के नाते हमारे अधिकारों और दायित्वों का घोषणा-पत्र है। संविधान भारत के प्रत्येक नागरिक से अपेक्षा करता है कि वह संविधान का अनुसरण करे तथा उसके आदर्शों और संस्थाओं का सम्मान करे। वस्तुतः नागरिकों के मूल कर्तव्य संबंधी भाग में इस कर्तव्य को सर्वोच्च स्थान दिया गया है।

हमारा देश आजकल जिन परिस्थितियों से गुज़र रहा है, उनके संदर्भ में यह विशेषतः आवश्यक लगता है कि अविलम्ब कुछ ऐसे प्रभावी कदम उठाए जाएँ जिनके द्वारा समाज के विभिन्न अंगों को, सभी स्तरों पर, संविधान की समुचित जानकारी और हमारी प्रातिनिधिक संस्थाओं के कार्यकरण के बारे में आवश्यक ज्ञान दिया जा सके। संविधान, शासन व्यवस्था और नागरिकों के अधिकारों - कर्तव्यों की शिक्षा का समावेश प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालयों, पॉलिटैकनिकों, तकनीकी महाविद्यालयों, व्यावसायिक शिक्षा संस्थाओं, विश्वविद्यालयों और शिक्षक-प्रशिक्षण केंद्रों के पाठ्यक्रमों में होना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तिका भारत के संविधान तथा उसके आदर्शों-उद्देश्यों को समझने-समझाने का एक विनीत प्रयास है। सीधी-सादी भाषा में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि हमारे देश की राज्य व्यवस्था में विभिन्न अंग – कार्यांग, विधानांग एवं न्यायांग – किस प्रकार काम करते हैं, उनके परस्पर संबंध क्या हैं तथा भारत का नागरिक होने के नाते अपने अन्य साथी नागरिकों के प्रति, राज्य के प्रति तथा समाज के प्रति हमारे अधिकार, दायित्व और कर्तव्य क्या हैं। वस्तुतः इस पुस्तिका की एक विशेषता यह है कि इसमें हम नागरिकों के सांविधानिक दायित्वों और कर्तव्यों के मूल्यों का विस्तृत विवेचन किया गया है तथा उनके पालन पर बल दिया गया है।

मैं आशा करता हूँ कि यह पुस्तिका हमारे संविधान और शासन व्यवस्था के बारे में व्यापक रूप से प्रचलित अनेक भ्रांतियों और असंगत धारणाओं का निराकरण करने में सफल होगी। जो विज्ञ पाठक भारत के संविधान और सांविधानिक विधि के बारे में कुछ अधिक विस्तृत जानकारी अथवा विभिन्न प्रावधानों का विश्लेषण-निर्वचन चाहें उन्हें मैं सुझाव देना चाहूँगा कि वे *नेशनल बुक ट्रस्ट* द्वारा प्रकाशित पुस्तक *हमारा संविधान* का अवलोकन करें।

इस सरल, सुगम और संक्षिप्त पुस्तिका की आवश्यकता और उपादेयता का अनुभव करने तथा उसे लिखा सकने के लिए राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् तथा उसके कर्मठ और मेधावी निदेशक डा. जगमोहन सिंह राजपूत विशेष साधुवाद के पात्र हैं। मेरा विश्वास है कि इस प्रयास का व्यापक स्वागत होगा और यह पुस्तिका शिक्षकों, विद्यार्थियों तथा संविधान और शासन व्यवस्था एवं उसमें अपनी भूमिका समझने में रुचि रखने वाले सभी जागरूक नागरिकों के लिए पठनीय और उपयोगी सिद्ध होगी।

नई दिल्ली
26 जनवरी 2001

सुभाष काश्यप

अनुक्रम

भारत का संविधान

उद्देशिका

हम, भारत के लोग, भारत को एक संपूर्ण
प्रभुत्व-संपन्न समाजवादी पंथ निरपेक्ष
लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए
तथा उसके समस्त नागरिकों को :

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय;

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म
और उपासना की स्वतंत्रता;

प्रतिष्ठा और अवसर की समता
प्राप्त कराने के लिए,

तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और
राष्ट्र की एकता और अखंडता
सुनिश्चित करने वाला बंधुत्व बढ़ाने के लिए

दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में
आज की तारीख 26 नवंबर, 1949 ई०
(मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हजार छह विक्रमी)
को एतद्‌द्वारा इस संविधान को अंगीकृत,
अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।

1

संविधान क्या है?

देश का संविधान उसकी आधारभूत विधि अथवा बुनियादी कानून होता है और सभी विधियों की वैधता को संविधान की कसौटी पर जाँचा जाता है। संविधान देश के मूल राजनीतिक ढाँचे की रूपरेखा निर्धारित करता है तथा राज्य व्यवस्था के मूल सिद्धांत निरूपित करता है। यदि हम जानना चाहें कि कोई देश किस प्रकार शासित होता है अथवा उसकी सरकार किस प्रकार चलती है और उसके नागरिकों के क्या अधिकार और दायित्व हैं, तो हमें उसके संविधान और उसके कार्यान्वयन को समझना होगा।

संविधान राज्य व्यवस्था के तीन प्रमुख अंगों--कार्यपालिका, विधानपालिका और न्यायपालिका--की स्थापना करता है। उनकी शक्तियों और अधिकार-क्षेत्रों को परिभाषित करता है। उनके दायित्वों एवं परस्पर संबंधों तथा जनता के साथ उनके संबंधों की व्याख्या करता है।

लोकतंत्र में सिद्धान्ततः संप्रभुता का वास जनता में होता है। देश के नागरिक स्वयं अपने स्वामी होते हैं। किन्तु, किसी अव्यवस्थित और असंगठित जनसमूह के लिए संप्रभु शक्तियों का सार्थक उपयोग संभव नहीं। जनता को एक ऐसी संस्था, एक ऐसा साधन चाहिए जिसके माध्यम से वह अपनी संप्रभुता की शक्तियों और स्वेच्छा को अभिव्यक्ति दे सके। प्राचीन यूनान के नगर राज्यों तथा भारत के ग्राम गणराज्यों में सारे नागरिक-गण एकत्र होकर राज्य के महत्वपूर्ण मामलों पर निर्णय लेते थे। यह प्रत्यक्ष लोकतंत्र

था। किंतु, आज के अधिकांश राष्ट्र-राज्यों के विशाल आकार, जनसंख्या और बढ़ती हुई प्रशासनिक जटिलताओं के संदर्भ में ऐसा प्रत्यक्ष लोकतंत्र अब सम्भव नहीं रहा।

आजकल के लोकतंत्र प्रायः सभी प्रातिनिधिक हैं। जनता मतदान द्वारा यह निर्णय करती है कि वह अपने ऊपर किसके द्वारा तथा किस प्रकार से शासन करे। जनता अपनी संप्रभुता का सबसे पहला और महत्वपूर्ण प्रयोग तब करती है जब वह अपने आपको एक संविधान प्रदान करती है, यह निर्णय करती है कि किस राजनीतिक व्यवस्था के द्वारा उसकी आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की पूर्ति हो सकती है।

किसी भी देश का संविधान उसके संविधान-निर्माताओं की दिव्यदृष्टि तथा उनके आदर्शों और मूल्यों का प्रतिबिंब होता है। वह उस पीढ़ी के विशिष्ट सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक चिंतन, आशाओं, अपेक्षाओं एवं आस्थाओं पर आधारित होता है। जब कोई राष्ट्र विदेशी शासन से मुक्ति पाता है अथवा जब कोई क्रांति होती है या कोई नया संप्रभुता प्राप्त राष्ट्र जन्म लेता है तो लोग अपने लिए एक नए संविधान का निर्माण करते हैं तथा उसके द्वारा शासन तंत्र में विभिन्न सत्ता केंद्रों की शक्तियों का सीमांकन करते हैं। संघीय व्यवस्था वाले देशों में, संविधान अन्य बातों के अलावा संघीय स्तर और राज्यों के स्तर पर विभिन्न अंगों के बीच शक्तियों और अधिकार-क्षेत्रों का निरूपण, वितरण और परिसीमन भी करता है।

संविधान को एक जड़ प्रलेख मात्र मान लेना भारी भूल होगी। संविधान केवल वह नहीं है जो उसके मूल पाठ में लिखा है। संविधान उस पुस्तक का नाम मात्र नहीं है जिसमें उसके प्रावधान दिए हुए हैं। संविधान तो एक सजीव, सतत गतिशील प्रक्रिया है। वह निरंतर बनता-बदलता, पनपता-पल्लवित होता रहता है। विधायिका से पारित सांविधानिक संशोधनों एवं विविध अधिनियमों के द्वारा, न्यायपालिका के समय-समय पर दिए गए निर्वचनों के द्वारा तथा कार्यांग की शासन-शैली और प्रक्रियाओं के द्वारा संविधान बदलता रहता है। संविधान के शब्दों को अर्थ मिलता है

कार्यान्वयन के द्वारा। कैसी परिपाटियां, परम्पराएं और प्रथाएं जन्म लेती हैं और कौन लोग, कैसे लोग, किस प्रकार संविधान को अमल में लाते हैं, इसी पर संविधान की श्रेष्ठता और सार्थकता निर्भर है। हमारे उच्चतम न्यायालय ने भी कहा है कि संविधान एक ज़िंदा चीज़ है और उसके किसी भी अनुच्छेद का निर्वचन करते समय उसके इतिहास का ध्यान रखना होगा और देखना होगा कि किस उद्देश्य से और किस लक्ष्य अथवा परिणाम की प्राप्ति के लिए उसकी संरचना की गई।

2

हमारा संविधान कैसे बना?

एक लंबे संघर्ष के बाद, 14-15 अगस्त 1947 की अर्द्धरात्रि में भारत विदेशी शासन से मुक्त हुआ। स्वाधीनता का अरुणोदय हुआ। कैबिनिट मिशन योजना के अन्तर्गत एक संविधान सभा का गठन पहले ही किया जा चुका था। सभा की पहली बैठक 9 दिसम्बर 1946 को हो गई थी। मुस्लिम लीग ने संविधान सभा में भाग नहीं लिया था। स्वाधीनता के साथ भारत का बंटवारा हुआ और एक पृथक राज्य के रूप में पाकिस्तान का जन्म हुआ।

संविधान सभा के सदस्यों का निर्वाचन सार्वभौम मताधिकार के अनुसार सीधे आम जनता द्वारा नहीं हुआ था। उन्हें प्रांतीय विधान सभाओं ने चुना था। प्रांतीय विधान सभाओं का अपना चुनाव भी संपत्ति आदि के आधार पर अत्यंत सीमित, केवल 11 प्रतिशत लोगों को प्राप्त मताधिकार से हुआ था। किन्तु, यह भी सत्य है कि अगर सार्वभौम वयस्क मताधिकार के आधार पर सीधे चुनाव हुए होते तो भी परिणाम अधिक भिन्न न होते। यह तब साबित हो गया जब 1951-52 के प्रथम लोक सभा चुनावों में वही कॉँग्रेस और लगभग वही सब नेतागण चुनकर आए।

महात्मा गांधी के नेतृत्व में जिस प्रकार अहिंसात्मक आंदोलन के द्वारा स्वाधीनता प्राप्त हुई थी उसका संविधान निर्माण की प्रक्रिया और संविधान के स्वरूप पर भारी प्रभाव पड़ा। यह कहना कि संविधान का निर्माण संविधान सभा ने किया, अधिक से अधिक

एक अर्द्धसत्य ही कहा जा सकता है क्योंकि संविधान निर्माता कोरे कागज़ पर नहीं लिख रहे थे। यद्यपि संविधान की उद्देशिका में कहा गया है कि "हम भारत के लोग" संविधान को "अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं", सत्य यह है कि भारत के संविधान का क्रमिक विकास हुआ। यह राष्ट्रीय आंदोलन के बीच समय-समय पर उठाई गई माँगों और ब्रिटिश शासकों द्वारा रुक-रुक कर मंजूर किए गए सांविधानिक सुधारों के द्वारा बनता रहा। संविधान निर्माताओं ने जान-बूझकर निर्णय लिया कि वह पहले से विकसित हुई संस्थाओं और उनके अनुभवों को भुलाकर एक नितांत नई शुरुआत नहीं करेंगे अपितु उनकी नींव पर आगे निर्माण करेंगे। संविधान के द्वारा ब्रिटिश शासन का अंत हुआ किंतु, उनके अन्तर्गत जन्मी-पनपी संस्थाओं का नहीं। इस प्रकार, स्वाधीनता और संविधान के बाद भी भारत अपने औपनिवेशिक अतीत से पूरी तरह अलग नहीं हुआ।

संविधान सभा की प्रथम बैठक के पाँचवें दिन, पंडित नेहरू ने अपना ऐतिहासिक उद्देश्य-प्रस्ताव प्रस्तुत किया। सुंदर शब्दों में तैयार किए गए इस उद्देश्य-प्रस्ताव के प्रारूप में भारत के भावी प्रभुता संपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य की रूपरेखा दी गई थी।

इस प्रस्ताव ने संविधान सभा को इसकें मार्गदर्शी सिद्धांत तथा दर्शन दिए जिनके आधार पर इसे संविधान निर्माण का कार्य करना था। अंततः, 22 जनवरी 1947 को संविधान सभा ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

संविधान सभा ने संविधान रचना की समस्या के विभिन्न पहलुओं से निपटने के लिए अनेक समितियां नियुक्त कीं। इन समितियों ने बड़े परिश्रम के साथ तथा सुनियोजित ढंग से कार्य किया और अनमोल रिपोर्टें पेश कीं।

भारत के संविधान का पहला प्रारूप संवैधानिक सलाहकार द्वारा संविधान सभा कार्यालय की मंत्रणा-शाखा में अक्तूबर 1947 में तैयार किया गया। इस प्रारूप की तैयारी से पहले, बहुत सारी आधार-सामग्री एकत्र की गई तथा संविधान सभा के सदस्यों को 'संवैधानिक पूर्वदृष्टांत' के नाम से तीन संकलनों के रूप में

उपलब्ध कराई गई। इन संकलनों में लगभग 60 देशों के संविधानों से मुख्य अंश उद्धृत किए गए थे। संविधान सभा ने संविधान सभा में किए गए निर्णयों पर अमल करते हुए संवैधानिक सलाहकार द्वारा तैयार किए गए भारत के संविधान के मूल पाठ के प्रारूप की छानबीन करने के लिए 29 अगस्त 1947 को डा. भीमराव अंबेडकर के सभापतित्व में प्रारूपण समिति नियुक्त की।

प्रारूपण समिति द्वारा तैयार किया गया भारत के संविधान का प्रारूप 21 फरवरी 1948 को संविधान सभा के अध्यक्ष को पेश किया गया। संविधान के प्रारूप में संशोधन के लिए बहुत बड़ी संख्या में टिप्पणियां, आलोचनाएं और सुझाव प्राप्त हुए। प्रारूपण समिति ने इन सभी पर विचार किया। इन सभी पर प्रारूपण समिति की सिफारिशों के साथ विचार करने के लिए एक विशेष समिति का गठन किया गया। विशेष समिति द्वारा की गई सिफारिशों पर प्रारूपण समिति ने एक बार फिर विचार किया और कतिपय संशोधन समावेश के लिए छांट लिए गए। इस प्रकार के संशोधनों के निरीक्षण की सुविधा के लिए प्रारूपण समिति ने संविधान के प्रारूप को दोबारा छपवाकर जारी करने का निर्णय किया। यह 26 अक्तूबर, 1948 को संविधान सभा के अध्यक्ष को पेश किया गया।

4 नवंबर, 1948 को संविधान सभा में संविधान के प्रारूप को विचार के लिए पेश करते समय डा. अंबेडकर ने प्रारूप की कुछ आम आलोचनाओं का, विशेष रूप से इस आलोचना का कि इसमें ऐसी सामग्री बहुत ही कम है जो मूल होने का दावा कर सकती हो, उत्तर दिया। उन्होंने कहा :

> "मैं पूछना चाहूंगा कि क्या विश्व के इतिहास में इस समय बनने वाले किसी संविधान में कोई नयी बात कही जा सकती है। सैकड़ों साल बीत गए जब प्रथम लिखित संविधान का प्रारूप तैयार किया गया था। अनेक देशों ने इसका अनुसरण करके अपने संविधान को लिखित रूप में परिवर्तित कर लिया। संविधान का विषय-क्षेत्र क्या होना चाहिए, इस प्रश्न का समाधान बहुत पहले हो चुका है। इसी प्रकार, संविधान के मूलाधार क्या हैं, इससे सारी दुनिया परिचित है। इन तथ्यों को देखते हुए, अनिवार्य है कि सभी संविधानों के मुख्य प्रावधान एक से दिखाई दें।

इतना समय बीत जाने पर जो संविधान बनाया गया है उसमें यदि कोई नयी बात कही जा सकती है तो वह यह है कि इसमें त्रुटियों को दूर करने तथा इसे देश की ज़रूरतों के अनुरूप बनाने के लिए आवश्यक हेर-फेर किए गए हैं। मुझे यकीन है कि अन्य देशों के संविधानों का अंधानुकरण करने का जो आरोप लगाया गया है, वह संविधान का पर्याप्त अध्ययन न किए जाने के कारण लगाया गया है।

जहां तक इस आरोप का संबंध है कि संविधान के प्रारूप में भारत शासन एक्ट, 1935 के अधिकांश प्रावधानों को ज्यों-का-त्यों शामिल कर लिया गया है, मैं उसके बारे में कोई क्षमायाचना नहीं करता। किसी से उधार लेने में कोई शर्म की बात नहीं है, इसमें कोई चोरी नहीं है। संविधान के मूल विचारों के बारे में किसी का कोई पेटेंट अधिकार नहीं है।"

संविधान के प्रारूप पर खंडवार विचार 15 नवंबर, 1948 से 17 अक्तूबर, 1949 के दौरान पूरा किया गया। उद्देशिका सबसे बाद में स्वीकार की गई। तत्पश्चात, प्रारूपण समिति ने परिणामी या आवश्यक संशोधन किए, अंतिम प्रारूप तैयार किया और उसे संविधान सभा के सामने पेश किया।

संविधान का दूसरा वाचन 16 नवंबर 1949 को पूरा हुआ तथा उससे अगले दिन संविधान सभा ने डा. अंबेडकर के इस प्रस्ताव के साथ कि 'संविधान सभा द्वारा यथानिर्णीत संविधान पारित किया जाए', संविधान का तीसरा वाचन शुरू किया। प्रस्ताव 26 नवंबर 1949 को स्वीकृत हुआ तथा इस प्रकार, उस दिन संविधान सभा में भारत की जनता ने भारत के प्रभुत्व संपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य का संविधान स्वीकार किया, अधिनियमित किया और अपने आप को अर्पित किया। संविधान सभा ने संविधान बनाने का भारी काम तीन वर्ष से कम समय में पूरा किया।

किंतु संविधान की स्वीकृति के साथ ही यात्रा का अंत नहीं हो गया। प्रारूपण समिति के सभापति डा. अंबेडकर और संविधान सभा के अध्यक्ष डा. राजेंद्र प्रसाद ने 25 तथा 26 नवंबर 1949 को भाषण करते हुए चेतावनी तथा सावधानी के शब्द कहे। डा. अंबेडकर ने कहा :

"मैं महसूस करता हूं कि संविधान चाहे कितना भी अच्छा क्यों न हो, यदि वे लोग, जिन्हें संविधान को अमल में लाने का काम सौंपा जाए, खराब निकलें तो निश्चित रूप से संविधान भी खराब सिद्ध होगा। दूसरी

ओर, संविधान चाहे कितना भी खराब क्यों न हो, यदि वे लोग, जिन्हें संविधान को अमल में लाने का काम सौंपा जाए, अच्छे हों तो संविधान अच्छा सिद्ध होगा। संविधान पर अमल केवल संविधान के स्वरूप पर निर्भर नहीं करता। संविधान केवल विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका जैसे राज्य के अंगों का प्रावधान कर सकता है। राज्य के उन अंगों का संचालन लोगों पर तथा उनके द्वारा अपनी आकांक्षाओं तथा अपनी राजनीति की पूर्ति के लिए बनाए जाने वाले राजनीतिक दलों पर निर्भर करता है। कौन कह सकता है कि कल भारत के लोगों तथा उनके राजनीतिक दलों का व्यवहार कैसा होगा? जातियों तथा संप्रदायों के रूप में हमारे पुराने शत्रुओं के अलावा, विभिन्न तथा परस्पर विरोधी विचारधारा रखने वाले राजनीतिक दल बन जाएंगे। क्या भारतवासी देश को अपने पंथ से ऊपर रखेंगे या पंथ को देश से ऊपर रखेंगे? मैं नहीं जानता। लेकिन यह बात निश्चित है कि यदि राजनीतिक दल अपने पंथ को देश से ऊपर रखेंगे तो हमारी स्वतंत्रता एक बार फिर खतरे में पड़ जाएगी और संभवतया हमेशा के लिए खत्म हो जाए। हम सभी को इस संभाव्य घटना का दृढ़ निश्चय के साथ प्रतिकार करना चाहिए। हमें अपनी आज़ादी की खून के आखिरी कतरे के साथ रक्षा करने का संकल्प करना चाहिए।"

संविधान सभा के अध्यक्ष डा. राजेंद्र प्रसाद ने अपने समापन भाषण में कहा कि संविधान सभा, कुल मिलाकर, एक ऐसे संविधान का निर्माण करने में सफल हुई थी जो देश के व्यापक हित में था। अब प्रश्न था इस संविधान के समुचित कार्यकरण का। संविधान सभा की कार्यवाही समाप्त करते हुए डा. राजेंद्र प्रसाद ने जिन अंतिम शब्दों को कहना उचित समझा, वे देश के पिछले दो दशकों के इतिहास और आज की परिस्थितियों के संदर्भ में विशेष रूप से स्मरणीय हैं तथा भारत की संविधान सभा और संविधान निर्माण की कहानी का उपसंहार करने के लिए उनसे अधिक उपयुक्त शब्द मिलना संभवतः असंभव होगा:

"भारत का संविधान लोकतंत्रात्मक है, किंतु लोकतंत्रात्मक संस्थाओं के सफल कार्यकरण के लिए यह आवश्यक है कि वे जो इसका क्रियान्वयन करें दूसरे के दृष्टिकोण को आदरपूर्वक देखने तथा समझौते और समायोजन के लिए तत्पर हों। बहुत कुछ जो संविधान में लिखा नहीं जा सकता, स्वस्थ परंपराएँ डालकर, अभिसमयों के द्वारा किया जाता है। संविधान में कुछ भी प्रावधान हों या न हों, देश का कल्याण इस पर निर्भर

करेगा कि उसका शासन कैसा है और शासन निर्भर होगा शासकों पर। कहा जाता है कि किसी देश को वैसी ही सरकार मिलती है जिसका वह अधिकारी है। जिन लोगों को चुना गया अगर वे योग्य, ईमानदार तथा चरित्र और निष्ठा वाले व्यक्ति हुए तो वे त्रुटिपूर्ण संविधान को भी सर्वोत्तम बना देंगे। यदि उनमें इसकी कमी हुई तो संविधान देश को नहीं बचा सकता। अंततः संविधान एक निर्जीव चीज़ है। इसमें प्राण पड़ता है उनके द्वारा जो इसे चलाते और नियंत्रित करते हैं और आज भारत को किसी चीज़ की इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि कुछ ईमानदार व्यक्तियों की जो अपने सामने देश का हित रखें। हमारे राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न अंगों से विघटनकारी प्रवृत्तियाँ उठ रही हैं। हमारे यहाँ कितने सामुदायिक, जातिगत, भाषा-संबंधी, प्रांतीय तथा अन्य मतभेद हैं। अतः आवश्यकता ऐसे लोगों की है जो चरित्र के पक्के हों तथा सूक्ष्म दृष्टि रखते हों, जो छोटे-छोटे समुदायों और क्षेत्रों के हित के लिए पूरे देश के हितों की बलि न दें और जो विभिन्नताओं से जन्मे पूर्वग्रहों से ऊपर उठ सकें। हम केवल यह आशा ही कर सकते हैं कि देश में ऐसे व्यक्ति प्रचुर संख्या में उभरेंगे।... जिन्होंने पहले देश की सेवा की है उन्हें अपनी पुरानी सफलताओं के सहारे अब आराम नहीं करना चाहिए और न यह सोचना चाहिए कि वे अपना काम पूरा कर चुके और अब तो फल भोगने का समय है। किसी भी ऐसे व्यक्ति के लिए जिसकी अपने काम में सच्ची निष्ठा हो ऐसा आराम का समय कभी आता ही नहीं। भारत में तो जो काम अब हमारे सामने है वह स्वाधीनता संघर्ष से भी अधिक कठिन है। उस समय हमारे सामने विभिन्न भागों में सामंजस्य स्थापित करने की समस्या नहीं थी, बाँटने के लिए पद-स्थानों के प्रलोभन नहीं थे, साझे के लिए हमारे हाथों में कोई शक्ति और सत्ता नहीं थी। अब हमारे पास यह सब कुछ है और सचमुच प्रलोभन बहुत बड़े हैं। ईश्वर हमें इतनी बुद्धि और बल दे कि हम इन सब प्रलोभनों के ऊपर उठ सकें और उस देश की सेवा कर सकें जिसे स्वाधीन कराने में हम सफल हुए हैं।"

संविधान पर संविधान सभा के सदस्यों द्वारा 24 जनवरी 1950 को, संविधान सभा के अंतिम दिन अंतिम रूप से हस्ताक्षर किए गए। किन्तु 26 जनवरी 1950 को भारत के संविधान के शुभारंभ के बाद भी, इसके वास्तविक अमल, न्यायिक निर्वचन और संवैधानिक संशोधनों के द्वारा इसके निर्माण की प्रक्रिया जारी रही। अच्छे के लिए हो या बुरे के लिए, संविधान का विकास जारी रहा। समय-समय पर जिस प्रकार और जैसे-जैसे लोगों ने संविधान को चलाया, वैसे ही वैसे उसे नए अर्थ मिलते गए और यह सिलसिला जारी है।

3

संविधान की विशेषताएँ

हमारा संविधान अनेक प्रकार से एक दम अनूठा है। उसकी अनेक विशेषताएँ हैं, जो विश्व के अन्य संविधानों से अलग उसकी एक अपनी पहचान बनाती हैं। द्वितीय महायुद्ध के बाद स्वाधीन हुए नवोदित राष्ट्रों के संविधानों में हमारा संविधान सबसे अधिक चिरजीवी और समय की कसौटी पर सशक्त सिद्ध हुआ है। साथ ही इसके बाद विश्व के विभिन्न देशों के जो नये संविधान बने, उन पर हमारे संविधान का प्रचुर प्रभाव पड़ा है।

सबसे लम्बा

भौतिक दृष्टि से देखा जाए तो यह अब तक किसी भी देश में बना सबसे लंबा संविधान है। यह एक बहुत ही व्यापक दस्तावेज़ है तथा इसमें अनेक ऐसे विषय सम्मिलित हैं जो औचित्य के विचार से साधारण विधान या प्रशासनिक कार्यवाही की विषयवस्तु हो सकते थे। ऐसा इसलिए हुआ कि भारत शासन अधिनियम, 1935 मूलतया एक कानून था और उसका उपयोग एक मॉडल तथा एक प्रारंभिक कार्यकारी प्रारूप के रूप में किया गया। साथ ही, इसके काफ़ी बड़े हिस्से संविधान में ज्यों-के-त्यों समाविष्ट कर लिए गए। इसके अलावा, संविधान निर्माता नहीं चाहते थे कि कोई ऐसा संशय, कठिनाई या विवाद रह जाए जिसके निराकरण के लिए भविष्य में विधान बनाना पड़े। संयुक्त राज्य अमरीका में संघीय संविधान के अलावा, प्रत्येक राज्य का अलग-अलग संविधान है।

इसके विपरीत, भारत के संविधान में न केवल संघ का बल्कि राज्यों का संविधान भी सम्मिलित है। भारत के आकार, इसकी जटिलताओं तथा विविधताओं के कारण भी देश के कतिपय क्षेत्रों अथवा जनता के वर्गों के लिए अनेक विशेष, अस्थायी, संक्रमणकालीन और विविध उपबंध करना आवश्यक हो गया। संविधान में प्रवर्तनीय अथवा न्यायालयों द्वारा लागू कराए जा सकने वाले मूल अधिकारों का एक व्यापक चार्टर ही समाविष्ट नहीं किया गया बल्कि इसमें उन सीमाओं का वर्णन भी किया गया जिनके अंतर्गत इनका संचालन होना चाहिए। इसके विपरीत, संयुक्त राज्य अमरीका में अधिकारों की सीमाएं न्यायालय के निर्णयों के लिए छोड़ दी गई थीं। साथ ही, हमारे संविधान में राज्य नीति के अनेक निदेशक तत्वों और नागरिकों के मूल कर्तव्यों का विवरण शामिल किया गया है। भले ही उन्हें न्यायालयों के द्वारा लागू नहीं कराया जा सकता पर आशा की जाती है कि उनसे सभी को--राज्य, न्यायालय तथा नागरिकों को--मार्गदर्शन मिलेगा।

लिखित अथवा अलिखित

संविधान अमरीकी संविधान की तरह लिखित या ब्रिटेन की तरह अलिखित तथा परंपराओं और प्रथाओं पर आधारित हो सकते हैं। हमारा संविधान एक लिखित संविधान है, हालांकि परंपराओं और प्रथाओं की विशेष भूमिका को भी नकारा नहीं जा सकता, बशर्ते वे संविधान के उपबंधों के अनुरूप हों।

अनम्य अथवा नम्य

संशोधन की कठिन या सरल प्रक्रिया के आधार पर संविधानों को अनम्य अथवा नम्य कहा जा सकता है। संघीय संविधानों की संशोधन प्रक्रिया कठिन होती है, इसलिए उन्हें सामान्यतया अनम्य के रूप में वर्गीकृत किया जाता है। हमारे संविधान को अनम्य तथा नम्य का मिश्रण कहा जा सकता है क्योंकि संविधान के कतिपय उपबंधों यथा अनुच्छेद 2, 3 तथा 4 और 169 का संशोधन

साधारण विधान की तरह संसद के दोनों सदनों में साधारण बहुमत द्वारा किया जा सकता है। अन्य उपबंधों का संशोधन अनुच्छेद 368 के अधीन संसद के दोनों सदनों द्वारा प्रत्येक सदन में उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई विशेष बहुमत और कुल सदस्यों के बहुमत द्वारा किया जा सकता है। केवल कुछ उपबंधों के मामले में, संशोधन के लिए संसद के दोनों सदनों के विशेष बहुमत के अतिरिक्त, आधे से अन्यून राज्यों के अनुसमर्थन की आवश्यकता होती है। पिछले 51 वर्षों के दौरान हमारे संविधान में 83 बार संशोधन किए गए हैं। इसलिए यह तथ्य इस आरोप को झुठला देता है कि हमारा संविधान अनम्य है।

परिसंघीय अथवा एकात्मक

संविधानों को परिसंघीय तथा एकात्मक में भी विभाजित किया जाता है। अमरीकी संविधान पहली श्रेणी का और ब्रिटेन का संविधान दूसरी श्रेणी का एक अत्युत्तम उदाहरण है। एकात्मक संविधान में सभी शक्तियाँ केंद्रीय सरकार में निहित होती हैं और इकाइयों के प्राधिकारी उसके अधीन होते हैं तथा केंद्रीय सरकार के एजेंटों के रूप में कार्य करते हैं और केंद्र द्वारा प्रत्यायोजित प्राधिकार का प्रयोग करते हैं। परिसंघीय राज्य व्यवस्था में सामान्यतया अनिवार्य है कि एक अनम्य, लिखित संविधान हो, संविधान सर्वोच्च हो और इसके अंतर्गत परिसंघीय सरकार तथा इकाइयों की सरकारों के बीच शक्तियों का विशिष्ट रूप से विभाजन हो और दोनों अपने-अपने क्षेत्रों में अपने निजी ढंग से तथा स्वतंत्र रूप से शक्तियों का प्रयोग करें। वास्तव में, उत्तम श्रेणी के परिसंघ में, परिसंघीय सरकार को केवल वही शक्तियाँ प्राप्त होती हैं जो उसे इकाइयों द्वारा समझौते के माध्यम से दी जाती हैं। इसके अलावा, अनिवार्य है कि यदि परिसंघ तथा राज्यों के बीच कोई विवाद हो तो उसके विवाचन के लिए एक स्वतंत्र उच्चतम न्यायालय हो।

भारत के संविधान का वर्णन विभिन्न प्रकार से किया गया है। इसे अर्द्धपरिसंघीय कहा गया है। इसे परिसंघीय किंतु प्रबल

एकात्मक अथवा केंद्र-समर्थक भी कहा गया है। इसे संरचना में परिसंघीय किंतु भावना में एकात्मक अथवा सामान्य स्थिति में परिसंघीय किंतु आपात स्थिति आदि के दौरान पूर्णतया एकात्मक रूप में परिवर्तित किया जा सकने वाला कहा गया है। असल में, हमारे संविधान को परिसंघीय या एकात्मक के किसी कठोर ढाँचे में बांधना कठिन है। इसमें दोनों की विशेषताएँ हैं। इसे एकात्मक नहीं माना जा सकता क्योंकि, मिसाल के लिए, इसमें संघ तथा राज्यों के बीच कार्यपालक तथा विधायी शक्तियों के वितरण की व्यवस्था की गई है और राज्यों की शक्तियों अथवा संघ तथा राज्य के संबंधों को प्रभावित करने वाले प्रावधानों में राज्यों के अनुसमर्थन के बिना संशोधन नहीं किया जा सकता। इसे पूरी तरह से परिसंघीय भी नहीं माना जा सकता क्योंकि अवशिष्ट शक्तियाँ संघ में निहित हैं। जैसा कि डा. अंबेडकर ने कहा था, अनम्यता तथा विधिवाद परिसंघवाद की दो गंभीर कमज़ोरियाँ हैं। भारतीय प्रणाली इस दृष्टि से अनूठी है कि इसमें इकहरी भारतीय नागरिकता वाली दोहरी राज्य व्यवस्था रखी गई है, और वह समय और हालात की ज़रूरतों के अनुसार दोनों ही हो सकती हैं। अनुच्छेद 249 के अधीन, संघ की संसद राज्य सूची का अतिक्रमण कर सकती है। अनुच्छेद 356 और 357 के अधीन किसी राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता के आधार पर, उसकी सभी कार्यपालक तथा विधायी शक्तियों को संघ अपने हाथ में ले सकता है और अनुच्छेद 352 से 354 के अधीन, संविधान को पूर्णरूपेण एकात्मक रूप दिया जा सकता है क्योंकि आपात स्थिति की उद्घोषणा के दौरान, संघ की कार्यपालक तथा विधायी शक्तियाँ राज्य सूची में सम्मिलित विषयों पर भी लागू हो जाती हैं। अंततः, अनुच्छेद 2, 3 और 4 के अधीन, संघ की संसद साधारण बहुमत से पारित साधारण कानून द्वारा नए राज्य बना सकती है और वर्तमान राज्यों के क्षेत्रों, उनकी सीमाओं या उनके नामों में परिवर्तन कर सकती है।

यह अनूठा एकात्मक, परिसंघीय मिश्रण किसलिए हुआ? इसका उत्तर भारत के संवैधानिक इतिहास में, देश के विशाल

आकार में और धर्म, भाषा, क्षेत्र, संस्कृति आदि पर आधारित उसकी मिश्रित विविधताओं के स्वरूप में खोजा जा सकता है। संविधान के प्रारूप को संविधान सभा की स्वीकृति के लिए पेश करते समय, प्रारूपण समिति के अध्यक्ष डा. अंबेडकर ने 'फ़ेडरेशन ऑफ़ स्टेट्स' (राज्य परिसंघ) के बजाय 'यूनियन ऑफ स्टेट्स' (राज्य संघ) पद का प्रयोग करने की सार्थकता को निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट करने का प्रयास किया था :

> "प्रारूपण समिति इस बात को स्पष्ट कर देना चाहती थी कि हालाँकि भारत को एक फ़ेडरेशन (परिसंघ) का रूप लेना था, किंतु फ़ेडरेशन राज्यों द्वारा फ़ेडरेशन में शामिल होने के समझौते का परिणाम नहीं था। चूँकि फ़ेडरेशन किसी समझौते का परिणाम नहीं था, अतः किसी भी राज्य को उससे अलग होने का अधिकार नहीं। फ़ेडरेशन एक संघ है क्योंकि वह अनश्वर है। हालांकि देश तथा जनता को प्रशासन की सुविधा के लिए विभिन्न राज्यों में विभाजित किया जा सकता है, किन्तु देश पूर्णतया एक अखंड इकाई है, इसकी जनता एक अखंड जनसमूह है, जो एक ही स्रोत से प्राप्त परमसत्ता के अधीन रहती है।"

संविधान के मूल पाठ में कहीं भी फ़ेडरल (परिसंघात्मक) या फ़ेडरेशन (परिसंघ) शब्द का प्रयोग नहीं किया गया। उच्चतम न्यायालय ने भारतीय संघ (यूनियन) का उल्लेख फ़ेडरल (परिसंघीय), क्वासी-फ़ेडरल (अर्द्धपरिसंघीय) या द्विस्वभावी के रूप में किया है जिसका अर्थ यह है कि यह कभी तो परिसंघीय होता है और कभी एकात्मक। (*राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ*, ए आई आर 1977 एस सी 1361)। *(अध्याय 5 और 9 भी देखिए।)*

संसदीय तथा अध्यक्षीय प्रणाली

भारत एक गणराज्य है। उसका अध्यक्ष राष्ट्रपति होता है, उसी में सभी कार्यपालक शक्तियाँ निहित होती हैं तथा उसी के नाम से इनका प्रयोग किया जाता है। वह सशस्त्र बलों का सर्वोच्च कमांडर भी होता है। किंतु यह मान्यता है कि अमरीकी राष्ट्रपति के विपरीत हमारा राष्ट्रपति कार्यपालिका का केवल नाममात्र का या संवैधानिक अध्यक्ष होता है। वह यथार्थ राजनीतिक

कार्यपालिका यानी मंत्रिपरिषद की सहायता तथा उसके परामर्श से ही कार्य करता है। मंत्री सामूहिक रूप से संसद के सीधे जननिर्वाचित सदन अर्थात लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार, ब्रिटिश प्रतिरूप का अनुसरण करते हुए, भारत के संविधान में बुनियादी तौर पर, संघ तथा राज्य, दोनों स्तरों पर संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है जिसमें मंत्रिगण सीधे जननिर्वाचित सदन के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इसके विपरीत अमरीकी राष्ट्रपतीय प्रणाली में शक्तियों का पृथक्करण होता है तथा राष्ट्रपति एक निश्चित कार्यकाल के लिए मुख्य कार्यपालक होता है और उसे प्रायः पदच्युत नहीं किया जा सकता। अमरीकी प्रणाली में, राष्ट्रपति आम नागरिकों में से अपने मंत्री चुनता है और मंत्री विधानमंडल के सदस्य नहीं होते, जबकि संसदीय प्रणाली में मंत्री संसद से लिए जाते हैं तथा वे इसका अंग बने रहते हैं और लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। कहा जा सकता है कि संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका के उत्तरदायित्व की संकल्पना पर अधिक बल दिया जाता है जबकि राष्ट्रपतीय प्रणाली में स्पष्टतया कार्यपालिका के स्थायित्व को अधिक महत्व दिया जाता है।

किंतु यह कहना गलत होगा कि हमने ब्रिटिश संसदीय प्रणाली को पूर्णरूपेण अपना लिया है। दोनों में अनेक मूलभूत अंतर तथा भिन्नताएँ हैं। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन का संविधान एकात्मक है, जबकि हमारा अधिकांशतया संघीय है। वहाँ वंशानुगत राजा वाला राजतंत्र है जबकि हमारा देश निर्वाचित राष्ट्रपति वाला गणराज्य है। ब्रिटेन के विपरीत, हमारा संविधान एक लिखित संविधान है। इसलिए हमारी संसद संप्रभुत्व-संपन्न नहीं है तथा इसके द्वारा पारित विधान का न्यायिक पुनरीक्षण हो सकता है। हमारे संविधान में वाद-योग्य ऐसे मूल अधिकारों का एक घोषणा-पत्र सम्मिलित है, जो न्यायालयों द्वारा न केवल कार्यपालिका के बल्कि विधायिका के खिलाफ भी लागू किया जा सकता है। ब्रिटेन की स्थिति इसके विपरीत है।

हमारे देश में संसदीय प्रणाली के स्थान पर राष्ट्रपतीय प्रणाली को अपनाने की वांछनीयता अथवा अवांछनीयता के संबंध में कुछ

बहस चलती रही है। किंतु संविधान निर्माताओं ने संसदीय प्रणाली को तरजीह दी क्योंकि उन्हें इसके संचालन का कुछ अनुभव था और सुस्थापित संस्थाओं को जारी रखने के अनेक लाभ थे। ज़िम्मेदार सरकार के लिए तथा निरंकुश कार्यपालक प्राधिकार के खिलाफ एक लंबे संघर्ष के अनुभव के बाद, स्वभावतया उन्हें ऐसी नियतकालिक कार्यपालिका पसंद नहीं थी जिसे हटाया न जा सके। उनका विश्वास था कि अत्यधिक बहुवादी समाज वाले भारत जैसे विशाल तथा विविधता से भरपूर देश के लिए, जहाँ विभिन्न प्रकार के प्रभाव काम करते हैं, सभी हितों को सँजोने तथा संयुक्त भारत के निर्माण के लिए संसदीय प्रणाली सर्वाधिक अनुकूल होगी।

अमरीकी राष्ट्रपतीय प्रणाली और ब्रिटिश संसदीय प्रणाली के बीच चुनाव करने की समस्या का उल्लेख करते हुए, डा. अंबेडकर ने संविधान सभा में कहा था कि दोनों ही लोकतंत्रात्मक हैं :

> "एक लोकतांत्रिक कार्यपालिका में दो गुण होने चाहिए-- स्थिरता और उत्तरदायित्व। दुर्भाग्यवश अभी तक ऐसी कोई व्यवस्था निर्मित नहीं हो सकी है जिसमें यह दोनों गुण बराबर मात्रा में हों....अमरीकी और स्विस व्यवस्थाएं अधिक स्थिरता प्रदान करती हैं किन्तु उनमें उत्तरदायित्व का गुण कम है। दूसरी ओर ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था में उत्तरदायित्व अधिक है किंतु स्थिरता की कमी है।...प्रारूप संविधान ने संसदीय कार्य पालिका का सुझाव देते समय अधिक स्थिरता के स्थान पर अधिक उत्तरदायित्व को ही चुना है।"

के.एम. मुंशी ने यही तर्क और भी स्पष्ट शब्दों में रखते हुए कहा था :

> "हमें यह महत्वपूर्ण तथ्य नहीं भूलना चाहिए कि गत 100 वर्षों में भारतीय जन जीवन ने मुख्यत: ब्रिटिश सांविधानिक विधि से ही स्फूर्ति ग्रहण की है। हममें से अधिकांश ने ब्रिटिश मॉडल को आदर्श माना है। पिछले 30-40 सालों में इस देश की शासन व्यवस्था में एक प्रकार के उत्तरदायित्व का समावेश हुआ है। हमारी सांविधानिक परम्पराएं संसदीय हो गई हैं। इस सारे अनुभव के बाद, हम क्यों सौ वर्षों में बनी परम्परा को त्यागकर एक नये अनुभव का प्रारम्भ करें?"

संसदीय प्रभुत्व बनाम न्यायिक सर्वोच्चता

ब्रिटिश संसदीय प्रणाली में संसद सर्वोच्च तथा प्रभुत्व संपन्न है।

इसकी शक्तियों पर, कम-से-कम सिद्धांत रूप में, कोई रोक नहीं है, क्योंकि वहाँ पर कोई लिखित संविधान नहीं है और न्यायपालिका को विधान का न्यायिक पुनरीक्षण करने का कोई अधिकार नहीं है। अमरीकी प्रणाली में, उच्चतम न्यायालय सर्वोच्च है क्योंकि उसे न्यायिक पुनरीक्षण तथा संविधान के निर्वचन की शक्ति प्राप्त है।

भारत में, संविधान ने मध्य मार्ग अपनाया है। उसने ब्रिटिश संसद की प्रभुता और अमरीकी न्यायिक सर्वोच्चता के बीच समझौता किया है। चूँकि हमारा संविधान एक लिखित संविधान है और उसमें प्रत्येक अंग की शक्तियों तथा उसके कार्यों को परिभाषित किया गया है तथा सीमा निर्धारित की गई है इसलिए किसी भी अंग के -- यहाँ तक कि संसद के भी--प्रभुत्व संपन्न होने का कोई प्रश्न नहीं है। संसद तथा उच्चतम न्यायालय, दोनों अपने क्षेत्रों में सर्वोच्च हैं। जहाँ उच्चतम न्यायालय संसद द्वारा पारित किसी कानून को संविधान का उल्लंघन करने वाला बताकर संसद के अधिकार से बाहर, अवैध और अमान्य घोषित कर सकता है, वहीं संसद कतिपय प्रतिबंधों के अधीन रहते हुए संविधान के अधिकांश भागों में संशोधन कर सकती है।

वयस्क मताधिकार

डा. अंबेडकर ने संविधान सभा में कहा था कि 'संसदीय प्रणाली से हमारा अभिप्राय', 'एक व्यक्ति, एक वोट' से है। संविधान निर्माताओं ने निष्ठापूर्वक कार्य करते हुए सार्वत्रिक वयस्क मताधिकार की पद्धति को अपनाने का निर्णय किया, जिसमें प्रत्येक वयस्क भारतीय को बिना किसी भेदभाव के मतदान के समान अधिकार तुरंत प्राप्त हों। अधिकांश भारतीय जनता गरीब तथा अनपढ़ थी। इस संदर्भ में यह निर्णय विशेष रूप से उल्लेखनीय था। पश्चिम के समुन्नत लोकतंत्रों में भी मताधिकार धीरे-धीरे ही दिया गया था।

मूल अधिकारों का घोषणा-पत्र

हमारे राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के नेताओं की सबसे बड़ी

बुनियादी माँग यह थी कि लोगों को स्वतंत्रता, समानता आदि के कुछ मूलभूत मानव अधिकार मिलें। अल्पसंख्यकों की समस्याओं ने संविधान के मूलपाठ में ही कतिपय वाद-योग्य अथवा न्यायालयों द्वारा लागू कराए जा सकने वाले मूल अधिकारों की औपचारिक घोषणा किए जाने की ज़रूरत पर बल दिया। मोटे तौर पर, संविधान के भाग-III में जो मूल अधिकार शामिल किए गए हैं, वे राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के ऐसे अधिकार हैं जिनका अतिक्रमण नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति को उसकी स्वतंत्रता से वंचित करने वाले कानून या कार्यपालक कार्य को उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालयों में चुनौती दी जा सकती है। यदि ये कानून अथवा कार्यपालक कार्य संविधान में ही बताए गए किन्हीं प्रतिबंधों के अंतर्गत न आते हों तो इन्हें असंवैधानिक तथा अमान्य ठहराया जा सकता है। इस प्रकार, मूल अधिकारों के प्रवर्तन का तंत्र तथा उसकी क्रियाविधि भी संविधान में निर्धारित है। अमरीकी संविधान में, मूल अधिकारों को निरपेक्ष शब्दों में अभिव्यक्त किया गया था। किंतु किसी व्यक्ति के कोई निरपेक्ष अधिकार नहीं हो सकते क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार कम-से-कम अन्य व्यक्तियों के उसी प्रकार के अधिकारों द्वारा सीमित होते हैं। अमरीकी उच्चतम न्यायालय को मूल अधिकारों पर वैध प्रतिबंधों का पता लगाना पड़ा तथा उनकी पहचान करनी पड़ी। किंतु हमारे संविधान निर्माताओं ने प्रतिबंधों को संबंधित उपबंधों में ही शामिल करने का निर्णय किया। इस प्रकार, हमारा संविधान एक ओर व्यक्ति के अधिकारों और दूसरी ओर समाज के हितों तथा राज्य की सुरक्षा की ज़रूरतों के बीच एक संतुलन प्रस्तुत करता है।

निदेशक तत्व

आयरलैंड के दृष्टांत से प्रेरित होकर तैयार किए गए राज्य नीति के निदेशक तत्व हमारे संविधान की एक अनूठी विशेषता है। लोगों के अधिकांश सामाजिक-आर्थिक अधिकार इस शीर्ष के अंतर्गत सम्मिलित किए गए हैं। हालांकि कहा जाता है कि इन्हें न्यायालय में लागू नहीं किया जा सकता, फिर भी इन तत्वों से देश के

शासन के लिए मार्गदर्शन की आशा की जाती है। ये संविधान निर्माताओं द्वारा राज्यों के समक्ष रखे गए आदर्शों के रूप में हैं और राज्य के सभी अंगों को उनकी प्राप्ति के लिए प्रयास करना चाहिए। न केवल विधानमंडलों की बल्कि न्यायालयों की नज़र में भी निदेशक तत्वों की प्रासंगिकता तथा महत्ता बराबर बढ़ती गई है।

नागरिकता

संविधान निर्माताओं ने एक एकीकृत भारतीय बंधुत्व तथा एक अखंड राष्ट्र का निर्माण करने के अपने लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए, संघीय संरचना होने के बावजूद केवल इकहरी नागरिकता का उपबंध रखा। अमरीका के विपरीत, भारत में संघ तथा राज्यों के लिए कोई पृथक नागरिकता नहीं रखी गई है और समूचे देश में सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के एक-से अधिकार प्राप्त कराए गए हैं, केवल जम्मू-कश्मीर, जनजातीय क्षेत्रों आदि को छोड़कर जहां कुछ विशेष संरक्षण प्रदान किए गए हैं।

मूल कर्तव्य

संविधान के 42वें संशोधन के द्वारा, अन्य बातों के साथ-साथ, 'मूल कर्तव्य' शीर्षक के अंतर्गत संविधान में एक नया भाग जोड़ा गया। इसमें भारत के सभी नागरिकों के लिए दस कर्तव्यों की एक संहिता निर्धारित की गई है। वस्तुतया कोई भी अधिकार तदनुरूप कर्तव्य के बिना व्यवहार्य नहीं हो सकता तथा राज्य की ओर नागरिकों के राजनीतिक दायित्वों के प्रति सम्मान के बिना नागरिकों के अधिकारों का कोई अर्थ नहीं है। यह दुर्भाग्य की ही बात है कि नागरिकों के मूल कर्तव्यों की संहिता को हमने अभी तक वह महत्व नहीं दिया है जो उसे मिलना चाहिए।

स्वतंत्र न्यायपालिका

भारत के संविधान में एक स्वतंत्र न्यायपालिका की व्यवस्था की गई है। उसे न्यायिक पुनरीक्षण की शक्तियाँ प्रदान की गई हैं।

उच्च न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालय एक ही एकीकृत न्यायिक संरचना के अंग हैं और उसका अधिकार क्षेत्र सभी विधियों यानी संघ, राज्य, सिविल, दांडिक या संवैधानिक विधियों पर होता है। अमरीका की तरह, हमारे देश में पृथक संघीय तथा राज्य न्यायालय प्रणालियाँ नहीं हैं। संपूर्ण न्यायपालिका न्यायालयों का श्रेणीबद्ध संगठन है। वह न केवल व्यक्तिगत अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं के अभिरक्षक के रूप में विवादों तथा कृत्यों का न्यायनिर्णयन करता है बल्कि उससे अपेक्षा की जा सकती है कि वह समय-समय पर संविधान का निर्वचन करे तथा संविधान के संदर्भ में किसी विधान की वैधता का निर्धारण करने के लिए, उसका पुनरीक्षण करे। उच्चतम न्यायालय का निर्णय देश के सभी न्यायालयों के लिए सर्वोपरि विधि होता है। उच्चतम न्यायालय राज्यों के बीच अथवा संघ तथा राज्यों के बीच अधिकार क्षेत्र तथा शक्तियों के वितरण के संबंध में उत्पन्न विवादों के विवाचक का कार्य भी करता है।

निष्कर्ष

भारत का संविधान एक सर्वाधिक व्यापक दस्तावेज़ है। यह अनेक दृष्टियों से अनूठा है। इसे किसी ख़ास साँचे-ढाँचे या मॉडल में फिट नहीं किया जा सकता। यह अनम्य तथा नम्य, परिसंघीय तथा एकात्मक, और अध्यक्षीय तथा संसदीय रूपों का सम्मिश्रण है। इसमें प्रयास किया गया है कि एक ओर व्यक्तियों के मूल अधिकारों और दूसरी ओर जनता के सामाजिक-आर्थिक हितों तथा राज्य की सुरक्षा के बीच संतुलन बना रहे। इसके अलावा, यह संसदीय प्रभुत्व तथा न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धांतों के बीच एक मध्य मार्ग प्रस्तुत करता है।

जहाँ द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद बनाए गए अनेक देशों के संविधान लुढ़क गए तथा लुप्त हो गए, वहां हमारे संविधान ने अनेक संकटों का सफलतापूर्वक सामना किया है और वह जीवित रहा है। यह बात स्वयंमेव उसकी सुनम्यता, सक्रियता और संवृद्धि की संभाव्यता का प्रमाण है।

4

संविधान की आत्मा

उद्देशिका

संविधान की उद्देशिका उन मूलभूत मूल्यों तथा सिद्धांतों को मूर्तरूप देने का प्रयास करती है जिन पर संविधान आधारित है। उद्देशिका में उन उद्देश्यों और लक्ष्यों का उल्लेख है जिन तक राज्य व्यवस्था के माध्यम से पहुँचने का सपना संविधान निर्माताओं ने देखा था। इन तत्वों की मूल अधिकारों, नीति निदेशक तत्वों और मूल कर्तव्यों वाले अध्यायों में और विस्तृत व्याख्या की गई है। दरअसल उद्देशिका में निहित संवैधानिक मूल्यों के पूरे संविधान में व्याप्त होने की अपेक्षा की जाती है। संसदीय लोकतंत्र, सार्वभौम मताधिकार, स्वतंत्र न्यायपालिका, इकहरी नागरिकता, संघ और राज्यों के बीच अधिकारों का बंटवारा--हमारे संविधान में निहित इन सभी विशेषताओं का उद्‌गम उद्देशिका में ही है। संविधान के पूरे प्रासाद का निर्माण और हमारी राजनीतिक व्यवस्था की संपूर्ण संरचना उद्देशिका में निहित संवैधानिक मूल्यों अथवा तत्वों की सुरक्षा और उन्नयन के उद्देश्य से ही की गई है। इस संविधान की उद्देशिका से आशा की जाती है कि जिन मूलभूत मूल्यों व दर्शन पर संविधान आधारित है, तथा जिंन लक्ष्यों व उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयास करने के लिए संविधान निर्माताओं ने राज्य व्यवस्था को निर्देश दिया, उनका उसमें समावेश हो।

हमारे संविधान की उद्देशिका में, जिस रूप में उसे संविधान सभा ने पास किया था, कहा गया था : "हम, भारत के लोग" भारत को एक "प्रभुत्व संपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य" बनाने के लिए

तथा उसके समस्त नागरिकों को न्याय, स्वतंत्रता और समानता दिलाने और उन सबमें बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प करते हैं। न्याय की परिभाषा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय के रूप में की गई थी। स्वतंत्रता में विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म व उपासना की स्वतंत्रता सम्मिलित थी और समानता का अर्थ था प्रतिष्ठा तथा अवसर की समानता। अंतिम लक्ष्य व्यक्ति की गरिमा तथा राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करना माना गया था। 1976 के 42वें संविधान संशोधन अधिनियम के द्वारा 'समाजवादी' तथा 'पंथ निरपेक्ष' शब्द उद्देशिका में जोड़ दिए गए। इसके अलावा 'राष्ट्र की एकता' शब्दों के स्थान पर 'राष्ट्र की एकता तथा अखंडता' शब्द रख दिए गए।

उद्देशिका का मूल पाठ जिस रूप में अब हमारे सामने है, उसके अनुसार, संविधान निर्माता जिन सर्वोच्च या मूलभूत संवैधानिक मूल्यों में विश्वास करते थे और भारत गणराज्य के जन-जन के मन में जिन मूल्यों के प्रति आस्था और प्रतिबद्धता जगाना चाहते थे, वे हैं :

- संप्रभुता
- समाजवाद
- पंथ निरपेक्षता
- लोकतंत्र
- गणराज्यीय स्वरूप
- न्याय
- स्वतंत्रता
- समानता
- बंधुत्व
- व्यक्ति की गरिमा, और
- राष्ट्र की एकता तथा अखंडता

संविधान निर्माता चाहते थे कि आने वाली जिन पीढ़ियों को संविधान चलाना है, वे इन मूल्यों से मार्ग दर्शन प्राप्त करें।

संप्रभुता

संप्रभुता को राज्य का [illegible] अनिवार्य [illegible] माना जाता है तथा यह

एक ऐसी परिशुद्ध तथा सर्वोच्च सत्ता की द्योतक है, जिस पर आंतरिक या बाह्य सत्ता का कोई नियंत्रण नहीं होता। संप्रभुता के इस पारंपरिक अर्थ में आज के किसी भी राज्य को पूरी तरह प्रभुत्व संपन्न नहीं कहा जा सकता। संयुक्त राष्ट्र, यूरोपीय आर्थिक समुदाय आदि अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की सदस्यता और अंतर्राष्ट्रीय संधियाँ, समझौते, अभिसमय आदि उस पर बहुत से दायित्व डाल देते हैं और कई तरह के अंकुश लगा देते हैं जिनसे संप्रभुता पर थोड़ी बहुत आँच आती ही है।

संविधान में संप्रभुता के एक और पहलू को मूल्य के रूप में स्थापित कर स्पष्ट कर दिया गया है कि संप्रभुता जनता में निहित है। "हम, भारत के लोग" ही संप्रभु हैं और हमने ही संविधान स्वयं को आत्मार्पित किया है। किसी को यह नहीं भूलना चाहिए कि राज्य के सर्वोच्च पदाधिकारियों की सृजनहार जनता है और वे उसके प्रति उत्तरदायी हैं। राज्य व्यवस्था में किसी अधिकार के उपयोग का अंतिम लक्ष्य सुशासन और ज़नकल्याण ही होना चाहिए।

समाजवाद

उद्देशिका में 'समाजवाद' के लक्ष्यों को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। इसका उल्लेख संप्रभुता के ठीक बाद किया गया है। लेकिन संविधान में समाजवाद शब्द की व्याख्या नहीं की गई है। शब्दकोष में इस शब्द का जो अर्थ दिया गया है, उसके अनुसार समाजवाद के अंतर्गत उत्पादन एवं वितरण के साधनों को पूर्णतः या अंशतः जनता के हाथों में, सार्वजनिक स्वामित्व में अर्थात् राज्य के नियंत्रण में होना चाहिए। इस संदर्भ में प्रश्न उठता है कि क्या उदारीकरण संबंधी नई आर्थिक नीतियों, मुक्त बाज़ार की प्रतियोगिता एवं निजीकरण आदि को समाजवादी माना जा सकता है।

पंथ निरपेक्षता

बातचीत की भाषा में पंथ निरपेक्षता अथवा सैक्यूलरवाद शब्द का

उपयोग अक्सर 'सांप्रदायिकता' विरोधी अर्थों में किया जाता है। एक पंथ निरपेक्ष राज्य अपने सभी नागरिकों के साथ उनके पंथ (धर्म) से निरपेक्ष होकर नागरिकों के रूप में बराबरी का व्यवहार करता है। उसका संबंध किसी धर्म या पंथ विशेष से नहीं होता और न ही यह किसी मज़हबी मामलों में दखल देने अथवा किसी पंथ या धर्म विशेष को बढ़ावा देने का प्रयास करता है। इस तरह का राज्य अपने सभी नागरिकों के हितों की सुरक्षा करने का प्रयास करता है। ऐसा करते समय उसके लिए उनके धार्मिक विश्वास और व्यवहार अप्रासंगिक होते हैं। वह तटस्थ और निरपेक्ष रह कर सभी जातियों और मतों के लोगों को संरक्षण और सम्मान प्रदान करता है। संविधान में 'सेक्युलर' शब्द को *सर्व धर्म समभाव* का आशय प्रदान किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि सभी धर्मों के साथ समान व्यवहार किया जाए अथवा उन्हें समान महत्त्व दिया जाए। संविधान में सांप्रदायिक द्वंद्व से मुक्त सामाजिक व्यवस्था पर विचार किया गया है। इसमें एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की संकल्पना की गई है जो सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक न्याय पर आधारित हो, एक ऐसी राज्य व्यवस्था जो कानून बनाते समय नागरिकों के बीच धर्म, जाति अथवा ऐसी ही अन्य बातों के आधार पर भेदभाव न करे। हमारे संविधान ने एक ऐसी "पंथ निरपेक्ष व्यवस्था" स्थापित करनी चाही है जिसमें बहुसंख्यक वर्ग को राज्य से कोई विशेष अधिकार अथवा सुविधाएँ न प्राप्त हों तथा अल्पसंख्यकों के धार्मिक अधिकारों को विभिन्न उपायों से सुरक्षा प्रदान की जाए।

लोकतंत्र

इस शब्द में निहित मूल अभिधारणा यह है कि संप्रभुता जनता में समाहित है। लोकतंत्र से यह आशय भी है कि धर्म, जाति, मत, रंग अथवा लिंग आदि के आधार पर नागरिकों के बीच कोई भेदभाव नहीं किया जाता और विधि के समक्ष सभी व्यक्ति समान हैं।

लोकतंत्र के विभिन्न रूप हैं और उन सबको समान रूप से वैध और प्रातिनिधिक माना जाता है। हमने 'संसदीय लोकतंत्र' को

अपनाया है। संविधान निर्माताओं ने शिक्षा, संपत्ति, आय अथवा लिंग को मापदंड बनाए बिना देश के सभी वयस्कों की विशाल आबादी को मताधिकार दे कर संविधान को पूर्ण प्रातिनिधिक बनाने का प्रयास किया है। इसकी पुष्टि सार्वजनिक वयस्क मताधिकार प्रदान करने वाले प्रावधानों और कार्यपालिका को विधानमंडल के लोकसदन के प्रति उत्तरदायी बनाए जाने से होती है।

हमारे संविधान निर्माताओं की दृष्टि में लोकतंत्र का अर्थ केवल राजनीतिक लोकतंत्र नहीं था, न ही वे यह मानते थे कि लोकतंत्र लोगों को एक निश्चित अंतराल के बाद अपने प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार दिलाने का माध्यम भर है। सामाजिक अथवा आर्थिक लोकतंत्र के बिना भारत जैसे ग़रीब देश में राजनीतिक लोकतंत्र का कोई महत्व नहीं है। डा. अंबेडकर के अनुसार सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र ही वास्तविक लक्ष्य और अंतिम उद्देश्य है। उनका कहना था कि "संसदीय लोकतंत्र को जब तक आर्थिक लोकतंत्र प्राप्ति के वास्तविक लक्ष्य की ओर अग्रसर नहीं किया जाता, तब तक वह बेमायने है।" जवाहरलाल नेहरू का भी कहना था कि उनकी कल्पना का लोकतंत्र लक्ष्य-प्राप्ति का माध्यम भर है। लक्ष्य है प्रत्येक व्यक्ति को अच्छा जीवन जीने का अवसर प्रदान कराया जाना तथा उसकी मौलिक आर्थिक आवश्यकताओं को एक हद तक पूरा किया जाना।

गणराज्यीय स्वरूप

'गणराज्य' की संकल्पना उस राज्य की प्रतीक है जिसमें जनता सर्वोच्च होती है, जिसमें सर्वोच्च सत्ता किसी व्यक्ति विशेष में नहीं अपितु जनसाधारण के हाथों में निहित होती है तथा जिसमें कोई विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग नहीं होता और सभी सार्वजनिक पदों के द्वार बिना किसी भेदभाव के प्रत्येक नागरिक के लिए खुले होते हैं। इसमें कोई वंशानुगत शासक नहीं होता तथा राज्य का अध्यक्ष लोगों द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए चुना जाता है। उसे सामान्यतया गणराज्य का राष्ट्रपति कहा जाता है।

भारत एक गणराज्य है, इस विषय में उद्देशिका में जो उल्लेख किया गया है, वह बहुत ही व्यापक अर्थों में किया गया है। 26 जनवरी 1950 को संविधान के लागू होने के साथ ही भारत डोमिनियन नहीं रहा तथा क्राउन के प्रति कोई राजनिष्ठा नहीं रही। भारत संघ का अध्यक्ष राष्ट्रपति होता है जो एक नियत अवधि के लिए जनता के प्रतिनिधियों के निर्वाचक मंडल द्वारा चुना जाता है। विधि की नज़र में सभी नागरिक बराबर होते हैं, कोई भी विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग नहीं होता और नस्ल, जाति, स्त्री-पुरुष या संप्रदाय के आधार पर किसी भेद के बिना सभी सार्वजनिक पदों के द्वार प्रत्येक नागरिक के लिए खुले होते हैं।

न्याय

उद्देशिका में सभी नागरिकों को न्याय का आश्वासन दिया गया है। न्याय का अर्थ है, व्यक्तियों के परस्पर हितों, समूहों के परस्पर हितों के बीच और एक ओर व्यक्तियों व समूहों के हितों तथा दूसरी ओर समुदाय के हितों के बीच सामंजस्य स्थापित हो। सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि उद्देशिका में न्याय को स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के सिद्धांतों से ऊँचा स्थान दिया गया है। न्याय की परिभाषा या व्याख्या सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय के रूप में की गई है। इसमें भी सामाजिक तथा आर्थिक न्याय को राजनीतिक न्याय से उच्चतर स्थान दिया गया है।

सामाजिक न्याय से मंतव्य यह है कि सभी नागरिकों को समान समझा जाता है और जन्म, नस्ल, जाति, धर्म, स्त्री-पुरुष, उपाधि आदि के कारण समाज में उनकी प्रतिष्ठा का न्याय के मामलों में कोई लिहाज़ नहीं किया जाता। आर्थिक न्याय में अपेक्षा की जाती है कि अमीरों तथा ग़रीबों के साथ एक-सा व्यवहार किया जाए और उनके बीच की खाई को पाटने का प्रयास किया जाए। राजनीतिक न्याय का अर्थ यह है कि जाति, नस्ल, संप्रदाय, धर्म या जन्मस्थान के आधार पर विभेद के बिना सभी नागरिकों को राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने के अधिकारों में बराबर का हिस्सा मिले।

नेहरू तथा अंबेडकर जैसे संविधान निर्माताओं का यह स्पष्ट मत था कि आर्थिक न्याय के बिना राजनीतिक न्याय निरर्थक है। धर्म, जाति एवं संप्रदाय के भेदभावों से ग्रस्त हमारे समाज में आर्थिक न्याय तब तक काफी नहीं है जब तक उसके साथ सामाजिक न्याय जुड़ा हुआ न हो। डा. अंबेडकर ने कहा था :

> "26 जनवरी, 1950 को हम अंतर्विरोधों के जीवन में प्रवेश करने जा रहे हैं। राजनीति में हमें समानता प्राप्त होगी और सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में हमें समानता प्राप्त नहीं होगी। राजनीति में, हम 'एक व्यक्ति एक वोट' और 'एक वोट एक मूल्य' सिद्धांत को मान्यता देंगे। हमारे सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में, हम, हमारे सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचे के कारण, 'एक व्यक्ति एक मूल्य' के सिद्धांत को नकारते रहेंगे।"

स्वतंत्रता

'लिबर्टी' का शाब्दिक अर्थ होगा बंधनमुक्ति, कारामुक्ति, दासता-मुक्ति, कृषि-दासता से मुक्ति या निरंकुशता से मुक्ति। उदार पश्चिमी परंपराओं की कल्पना के अनुसार तथा अहस्तक्षेप के सिद्धांतों के संदर्भ में स्वतंत्रता अधिकांशतया एक नकारात्मक संकल्पना है। किंतु हमारे संविधान की उद्देशिका में स्वतंत्रता का अर्थ केवल नियंत्रण या आधिपत्य का अभाव ही नहीं है। यह "विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता" के अधिकार की सकारात्मक संकल्पना है। इसमें उन विभिन्न स्वतंत्रताओं का समावेश है जिन्होंने बाद में संविधान के मूल अधिकारों वाले भाग में मूर्त रूप लिया तथा जिन्हें व्यक्ति और राष्ट्र के विकास के लिए आवश्यक समझा गया।

समानता

हमारी उद्देशिका में केवल प्रतिष्ठा तथा अवसर की समानता की संकल्पना का समावेश किया गया है। इसके कानूनी, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक पहलू हैं। विधि की नज़र में सभी नागरिक बराबर हैं और उन्हें देश की विधियों का समान रूप से संरक्षण प्राप्त है। सार्वजनिक स्थानों में प्रवेश तथा लोक नियोजन

के विषय में धर्म, नस्ल, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के बीच कोई विभेद नहीं हो सकता। सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के मतदान करने तथा शासन की प्रक्रिया में भाग लेने के राजनीतिक अधिकारों को प्राप्त करने का बराबर का हक़ है। आर्थिक क्षेत्र में समानता का अर्थ यह है कि एक-सी योग्यता तथा एक-से श्रम के लिए वेतन भी एक-सा होगा। इसके अलावा, एक व्यक्ति या एक वर्ग अन्य व्यक्तियों या वर्गों का शोषण नहीं करेगा।

बंधुत्व

न्याय, स्वतंत्रता और समानता के आदर्श तभी तक प्रासंगिक तथा सार्थक होते हैं जब तक वे भाईचारे की, भारतीय बंधुत्व की, एक ही भारतमाता के सपूत होने की सर्वसाझी भावना को बढ़ावा देते हैं और इसमें जातीय , भाषाई, धार्मिक और अन्य अनेक प्रकार की विविधताएं आड़े नहीं आतीं। सर्वमान्य नागिरकता से संबंधित उपबंधों का उद्देश्य भारतीय बंधुत्व की भावना को मज़बूत करना तथा एक सुदृढ़ भारतीय भाईचारे का निर्माण करना है। सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के मूल अधिकारों की जो गारंटी दी गई है और सामाजिक तथा आर्थिक समानता का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए जो निदेशक सिद्धांत बनाए गए हैं, उनका उद्देश्य भी बंधुत्व को बढ़ावा देना है।

वास्तव में, बंधुत्व की संकल्पना पंथ निरपेक्षता की संकल्पना से कहीं अधिक व्यापक है। यह धर्म तथा राजनीति के पृथक्करण, धर्म की स्वतंत्रता, सभी धर्मों के प्रति समान आदर आदि से कहीं आगे जाती है। दुर्भाग्यवश, न्यायविदों तथा न्यायाधीशों ने इस संकल्पना को पर्याप्त महत्व नहीं दिया है। बंधुत्व के सिद्धांत को मान्यता देने की ज़रूरत के विषय में बोलते हुए डा. अंबेडकर ने संविधान सभा में कहा था :

> "बंधुत्व का अर्थ क्या है? बंधुत्व का अर्थ है सभी भारतीयों के सर्वमान्य भाईचारे की, सभी भारतीयों के एक होने की भावना। यही सिद्धांत सामाजिक जीवन को एकता तथा अखंडता प्रदान करता है। इसे प्राप्त करना कठिन है।"

व्यक्ति की गरिमा

आशा की जाती है कि बंधुत्व के माध्यम से व्यक्ति की गरिमा सुरक्षित रहेगी और उसका विकास होगा। भारतीय राज्य व्यवस्था की इकाई व्यक्ति है। इसलिए संविधान निर्माताओं की दृष्टि में व्यक्ति की गरिमा सर्वाधिक महत्वपूर्ण थी। अंतिम उद्देश्य यह था कि व्यक्ति के जीवन स्तर में सुधार हो और हर नागरिक का जीवन गरिमामय और जीने के योग्य बनाया जा सके।

राष्ट्र की एकता तथा अखण्डता

व्यक्ति की गरिमा को तभी सुरक्षित रखा जा सकता है जब राष्ट्र का निर्माण हो तथा इसकी एकता और अखंडता सुरक्षित रहे। सर्वमान्य भाईचारे तथा बंधुत्व की भावना के द्वारा ही हम अत्यधिक बहुलतावादी तथा पंचमेल समाज में राष्ट्रीय एकता का निर्माण करने की आशा कर सकते हैं।

संविधान निर्माताओं की सोच में निहित सर्वोच्च मूल्य यह था कि एकीकृत भारत का निर्माण किस प्रकार किया जाए तथा यहाँ के नाना प्रकार से विखण्डित-विभाजित सामंती समाज को मज़बूत और संगठित राष्ट्र में कैसे परिवर्तित किया जाए। जाति और समुदायों के कारण उपजे विकृत सामाजिक विभेदों को मिटाना उनकी सबसे बड़ी धुन थी। वे भारतीय समाज में पारस्परिक बंधुत्व और मैत्री भाव विकसित करना चाहते थे। इसके साथ ही, यह भी निश्चित था कि राष्ट्र की एकता और अखंडता कायम किए बिना न तो आर्थिक विकास के लिए किए जाने वाले प्रयास सफल हो सकते थे और न ही हम स्वतंत्रता, लोकतंत्र और देशवासियों के सम्मान को सुरक्षित रख सकते थे।

निष्कर्ष

उद्देशिका में समाविष्ट विभिन्न संकल्पनाओं तथा शब्दों से पता चलता है कि हमारी उद्देशिका के उदात्त और गरिमामय शब्द भारत के समूचे संविधान के सारांश, दर्शन, आदर्शों और उसकी

आत्मा का निरूपण करते हैं। संविधान के अन्य भाग तथा उपबंध उद्देशिका के शब्दों की एक व्याख्या तथा उन्हें ठोस रूप, विचार-तत्व और अर्थ प्रदान करने का एक प्रयास मात्र हैं। इसमें कोई अचंभे की बात नहीं कि उच्चतम न्यायालय ने पाया कि उद्देशिका में संविधान की कुछ ऐसी बुनियादी विशेषताएँ अंतर्निहित हैं जिन्हें अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान के किसी संशोधन द्वारा भी बदला नहीं जा सकता।

अब जब हमारे संविधान के कार्यकरण के 50 से अधिक वर्ष बीत चुके हैं, हमें गंभीरतापूर्वक सोचना होगा कि संविधान की उद्देशिका में निरूपित मूल उद्देश्यों और लक्ष्यों की प्राप्ति में हम कहाँ तक सफल हो सके हैं। *[अध्याय 14 भी देखिए।]*

5

भारत का राज्य क्षेत्र और नागरिकता

संविधान के अनुच्छेद 1 में कहा गया है कि "भारत, अर्थात इंडिया राज्यों का संघ होगा"। "भारत अर्थात इंडिया" नाम संविधान सभा ने बहुत वाद-विवाद के बाद अपनाया। ऐसा करके देश के प्राचीन नाम 'भारत' और सारी दुनिया में प्रचलित इसके आधुनिक नाम 'इंडिया' के बीच तालमेल स्थापित करने का प्रयास किया गया। भारत संयुक्त राष्ट्र का सदस्य भी 'इंडिया' नाम से ही था।

संविधान को लागू किए जाते समय भारत में भाग क, भाग ख और भाग ग श्रेणी के राज्य तथा भाग घ श्रेणी के राज्य क्षेत्र शामिल थे। वर्तमान में संघ के राज्य क्षेत्र के अंतर्गत 28 राज्य और सात संघ राज्य क्षेत्र हैं। ये हैं :

राज्य

(1) आंध्र प्रदेश, (2) अरुणाचल प्रदेश, (3) असम, (4) उत्तरांचल, (5) बिहार, (6) गोवा, (7) गुजरात, (8) छत्तीसगढ़, (9) झारखंड, (10) हरियाणा, (11) हिमाचल प्रदेश, (12) जम्मू-कश्मीर, (13) कर्नाटक, (14) केरल, (15) महाराष्ट्र, (16) मध्य प्रदेश, (17) मणिपुर, (18) मेघालय, (19) मिज़ोरम, (20) नागालैंड, (21) उड़ीसा, (22) पंजाब, (23) राजस्थान, (24) सिक्किम, (25) तमिलनाडु, (26) त्रिपुरा, (27) उत्तर प्रदेश, (28) पश्चिम बंगाल।

संघ राज्य क्षेत्र

(1) अंदमान और निकोबार द्वीप, (2) चंडीगढ़, (3) दादरा और नागर हवेली, (4) दमण और दीव, (5) दिल्ली (अब इसका नाम राष्ट्रीय राजधानी राज्य क्षेत्र है), (6) लक्षद्वीप, (7) पांडिचेरी।

भारत एक 'संघ' है, इस बात पर बल देने का प्रयोजन इस तथ्य को प्रकाश में लाना था कि यह संघटक इकाइयों के बीच सौदेबाज़ी या समझौते का परिणाम नहीं है बल्कि यह संविधान सभा की एक स्पष्ट घोषणा है जिसने अपनी शक्ति तथा प्राधिकार भारत की प्रभुत्व संपन्न जनता से प्राप्त किया था। इसलिए, कोई भी राज्य संघ से अलग नहीं हो सकता और न ही अपनी मर्ज़ी से संविधान की प्रथम अनुसूची में निर्धारित अपने राज्य क्षेत्र में परिवर्तन कर सकता है।

संविधान के अनुच्छेद 2, 3 और 4 के अधीन संघ का विधान मंडल किसी भी राज्य के नाम, राज्य क्षेत्र और सीमा में कानून बनाकर परिवर्तन कर सकता है। संघ में नए राज्यों को भी शामिल किया जा सकता है। देशी रियासतों के सम्मिलन, भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन, सिक्किम जैसे नए राज्यों तथा पांडिचेरी और गोआ आदि जैसे क्षेत्रों के प्रवेश एवं हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, नागालैंड, मणिपुर, मिज़ोरम, मेघालय, झारखंड, उत्तरांचल और छत्तीसगढ़ आदि नवोदित राज्यों के निर्माण से भारत के राजनीतिक मानचित्र में काफी परिवर्तन हुआ है।

नागरिकता

एक नागरिक सामान्यतया किसी संप्रभुता सम्पन्न राष्ट्र का स्थाई निवासी होता है और राज्य के प्रति उसकी पूर्ण निष्ठा होती है। वह राज्य से संरक्षित होता है तथा रोज़गार, मताधिकार एवं लोक-पदों पर आसीन होने के मामले में समस्त नागरिक अधिकार उसे सुलभ होते हैं। एक नागरिक और देश में निवास करने वाले विदेशियों में अंतर है। विदेशियों को जीवन का अधिकार जैसे कुछ मानवाधिकार प्राप्त हो सकते हैं, पर उन्हें लोक-सेवा के पदों पर आसीन होने जैसे राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं हो सकते। एक

नागरिक की स्थिति के साथ अधिकार और कर्तव्य दोनों जुड़े हुए हैं।

सन् 1949 की 26 नवंबर से पहले भारतीय नागरिकता की कोई संकल्पना नहीं थी। उस समय तक जो लोग ब्रिटिश भारत में रहते थे, वे क्राउन के अधीन थे और इस प्रकार ब्रिटिश प्रजा थे। उन पर ब्रिटिश राष्ट्र के कानून लागू होते थे। देशी रियासतों में रहने वाले लोगों को ब्रिटेन से संरक्षण प्राप्त व्यक्तियों का दर्जा प्राप्त था।

संविधान के अनुच्छेद 5 से 11 में केवल इस संबंध में विधि निर्धारित की गई है कि संविधान के लागू होते समय भारतीय नागरिक किसे माना जाएगा।

अनुच्छेद 5-8 के अंतर्गत 'प्रत्येक उस व्यक्ति' को नागरिकता प्रदान की गई जो संविधान के प्रारम्भ के समय निम्नलिखित में से किसी एक श्रेणी के अंतर्गत आता था :

1. भारत का अधिवासी तथा भारत में जन्मा, भारत संघ की अधिकांश जनसंख्या ऐसे व्यक्तियों की थी;
2. अधिवासी, जो भारत में नहीं जन्मा, किन्तु जिसके माता-पिता में से कोई भारत में जन्मा था;
3. अधिवासी, जो भारत में नहीं जन्मा, किन्तु जो पाँच वर्ष से अधिक समय तक भारत का सामान्यतया निवासी रहा था;
4. भारत का निवासी किंतु जो 1 मार्च 1947 के बाद पाकिस्तान चला गया था और बाद में पुनर्वास अनुज्ञा लेकर भारत लौट आया था;
5. पाकिस्तान का निवासी किंतु जो 19 जुलाई, 1948 से पहले भारत में प्रवास कर गया था अथवा जो उस तारीख़ के बाद आया था किंतु छह महीने से अधिक समय से भारत में निवास कर रहा था और जिसने विहित ढंग से पंजीकृत करा लिया था;
6. भारत के बाहर रहने वाला, किंतु जिसके माता-पिता में से कोई या पितामह-पितामही अथवा मातामह-मातामही में से कोई भारत में जन्मा था।

इस प्रकार संविधान के लागू होने के समय नागरिकता के लिए (क) अधिवास के आधार पर (ख) पाकिस्तान से आए तथा वहाँ गए व्यक्तियों के लिए और (ग) विदेशों में रहने वाले भारतीयों के लिए नागरिकता के उपबंध समाविष्ट किए गए थे।

संविधान ने भारत की नागरिकता के अर्जन एवं निरसन संबंधी विधान अधिनियमित करने का अधिकार संसद को दिया था। उसके द्वारा पारित भारतीय नागरिकता अधिनियम 1955 में नागरिकता प्राप्ति के लिए संक्षेप में ये शर्तें निर्धारित की गई हैं :

(क) 26 जनवरी, 1950 के बाद भारत में जन्मा कोई भी व्यक्ति, कुछ अपवादों, जैसे राजनयिकों तथा शत्रु विदेशियों के बच्चों आदि को छोडकर, जन्म से भारत का नागरिक होगा;

(ख) 26 जनवरी, 1950 के बाद भारत के बाहर जन्मा कोई भी व्यक्ति, *कतिपय अपेक्षाओं के अधीन रहते हुए, भारत का* नागरिक होगा, यदि उसके जन्म के समय उसका पिता भारत का नागरिक था;

(ग) कतिपय दशाओं में, कुछ श्रेणियों के व्यक्ति विहित रीति में रजिस्ट्रीकरणं द्वारा भारतीय नागरिकता अर्जित कर सकते हैं;

(घ) विदेशी व्यक्ति, कतिपय शर्तों पर, नागरिकता प्राप्त करने के लिए आवेदन देकर भारतीय नागरिकता अर्जित कर सकते हैं। इस श्रेणी का एक प्रसिद्ध उदाहरण ब्रिटेन के ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक जे. बी. एस. हल्देन द्वारा 1958 में भारतीय नागरिकता लिया जाना है;

(ड) यदि कोई राज्य क्षेत्र भारत का अंग बन जाता है तो भारत सरकार आदेश द्वारा यह निर्दिष्ट कर सकती है कि उसके परिणामस्वरूप कौन व्यक्ति भारत के नागरिक बन सकते हैं;

(च) नागरिकता निरसन के कारण अथवा कतिपय आधारों पर स्वेच्छा से त्याग दिए जाने या उससे वंचित कर दिए जाने के कारण समाप्त हो सकती है;

(छ) राष्ट्रमंडल देश के किसी नागरिक को भारत में राष्ट्रमंडल नागरिक का दर्जा प्राप्त होगा। सरकार परस्परता के आधार पर उपयुक्त प्रावधान कर सकती है।

संविधान तथा इस विधि में नागरिकता के उपबंधों के संबंध में यह याद रखना महत्वपूर्ण है कि संविधान निर्माताओं ने एकीकृत भारतीय राष्ट्र तथा संयुक्त बंधुत्व का निर्माण करने के लक्ष्य को सामने रखकर संघ के संपूर्ण राज्य क्षेत्र में इकहरी भारतीय नागरिकता का प्रावधान करने का निर्णय किया था। सभी नागरिकों के, चाहे उनका जन्म किसी भी राज्य में हुआ हो, बिना किसी भेदभाव के देश भर में एक से अधिकार तथा कर्तव्य हैं। किंतु जम्मू तथा कश्मीर, जनजातीय क्षेत्रों आदि के मामले में कुछ विशेष संरक्षण प्रदान किए गए हैं। अनुच्छेद 16 के अधीन संसद को शक्ति दी गई है कि वह किसी राज्य या संघ-राज्य क्षेत्र के अंदर निवास को उस राज्य या संघ-राज्य क्षेत्र के अधीन कतिपय श्रेणियों के रोज़गारों के लिए आवश्यक अर्हता विहित कर सकती है।

हमारे संविधान के तीसरे भाग में यदि नागरिकों के मूल अधिकारों से संबंधित घोषणा-पत्र दिया हुआ है तो उसके भाग 4(क) में उनके मूल कर्तव्यों के बारे में भी एक घोषणा-पत्र शामिल किया गया है। संविधान ने लोक-सेवा के पदों पर आसीन होने का अधिकार केवल भारतीय नागरिकों को ही दिया है। संसद और राज्य विधानमंडलों की सदस्यता के लिए भी उन्हीं को अधिकृत माना गया है। जजों के पदों जैसे स्थाई प्रकृति के सरकारी पदों एवं ओहदों के दरवाज़े भी केवल भारतीय नागरिकों के लिए खुले हैं।

6

संविधान के आधार

मूल अधिकार, राज्यनीति के निदेशक तत्व और नागरिकों के मूल कर्तव्य

संविधान के भाग 3 में मूल अधिकार तथा भाग 4 में नीति निदेशक तत्व समाविष्ट हैं। उद्देशिका में निहित भावना को संपूर्णता प्रदान करने के लिए बाद में संविधान के भाग 4(क) में मूल कर्तव्यों को भी शामिल कर लिया गया है। ये तीनों मिलकर संविधान के बुनियादी मूल्यों की उद्घोषणा करते हैं तथा इसके आधारभूत सिद्धांतों की स्थापना करते हैं। दरअसल भाग 3 तथा भाग 4 के विभिन्न प्रावधानों के माध्यम से उद्देशिका में व्यक्ति की गरिमा की सुरक्षा के बारे में दिए गए आश्वासन को पूरा करने का प्रयास किया गया है। मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा में भी अंतर्निहित आधारभूत सिद्धांत 'व्यक्ति की गरिमा' की सुरक्षा ही है। उद्देशिका में स्वतंत्रता और समानता के मूल्यों को मानव की गरिमा के उपयुक्त मानकर उनकी घोषणा अत्यंत ऊँचे स्वर में की गई है। आर्थिक तथा सामाजिक न्याय के आदर्शों के माध्यम से इन्हें और अधिक पूर्णता तथा स्थायित्व प्रदान किया गया है।

मूल अधिकार

संविधान के भाग 3 में मानवाधिकारों के बारे में अत्यंत विस्तृत घोषणा-पत्र समाविष्ट है। संभवत: किसी अन्य देश ने ऐसा घोषणा-पत्र तैयार नहीं किया होगा। यह देश की एकता और

सामान्य जन के हितों के अनुरूप है। मूल अधिकारों में मानवाधिकारों के सार्वभौम घोषणा-पत्र के अनुच्छेद 2 से ले कर 21 तक उल्लिखित समस्त पारंपरिक नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार शामिल हैं।

संविधान ने छह व्यापक श्रेणियों के मूल अधिकारों की गारंटी दी है। ये हैं :

1. समानता का अधिकार, जिसमें विधि के समक्ष समानता तथा विधियों का समान संरक्षण (अनुच्छेद 14) धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध (अनुच्छेद 15), लोक नियोजन के विषय में अवसर की समानता (अनुच्छेद 16) और अस्पृश्यता तथा उपाधियों का अंत (अनुच्छेद 17 और 18) शामिल हैं;
2. स्वतंत्रता का अधिकार, जिसमें जीवन तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता के संरक्षण का अधिकार (अनुच्छेद 21), भाषण तथा अभिव्यक्ति, सम्मेलन, संगम या संघ बनाने, भारत के किसी भाग में जाने और निवास करने तथा बस जाने की स्वतंत्रता का अधिकार और कोई पेशा या व्यवसाय करने का अधिकार (अनुच्छेद 19) शामिल हैं;
3. शोषण के विरुद्ध अधिकार, जिसके अंतर्गत सभी प्रकार के बलात श्रम, बाल श्रम और मानव के दुर्व्यवहार का निषेध किया गया है (अनुच्छेद 23 तथा 24);
4. अंत:करण की और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 25 से 28);
5. अल्पसंख्यकों का अपनी संस्कृति, भाषा और लिपि को बनाए रखने तथा अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार (अनुच्छेद 29 तथा 30);
6. इन सभी मूल अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए संवैधानिक उपचारों का अधिकार (अनुच्छेद 32)।

विधि के समक्ष समानता तथा सभी विधियों का समान संरक्षण (अनुच्छेद 14), अपराधों के लिए दोष सिद्धि के संबंध में संरक्षण (अनुच्छेद 20), जीवन तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता का संरक्षण

(अनुच्छेद 21), कुछ दशाओं में गिरफ़्तारी और निरोध से संरक्षण (अनुच्छेद 22), धर्म की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 25-28) जैसे कुछ मूल अधिकार सभी व्यक्तियों को सुलभ हैं। किंतु कुछ अधिकार ऐसे हैं जिनका दावा केवल नागरिकों द्वारा किया जा सकता है, जैसे धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध (अनुच्छेद 15), लोक नियोजन के विषय में अवसर की समानता (अनुच्छेद 16) और भाषण तथा अभिव्यक्ति, सम्मेलन, संगम, संचरण, निवास और पेशे की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 19)।

मूलतया अनुच्छेद 19(1) (च) तथा अनुच्छेद 31 में राज्य के विधि के प्राधिकार से लोक प्रयोजन के लिए अनिवार्य अर्जन के अधिकार के अधीन रहते हुए संपत्ति का अधिकार अर्थात संपत्ति अर्जित करने, धारण करने और बेचने का अधिकार समाविष्ट था। किंतु जब संविधान (44वां संशोधन) अधिनियम, 1978 ने अनुच्छेद 19 के खंड (1) के उपखंड (च) और सारे-के-सारे अनुच्छेद 31 का लोप कर दिया, तब से संपत्ति का मूल अधिकार मूल अधिकार नहीं रहा।

प्रथम संविधान संशोधन द्वारा अंतःस्थापित अनुच्छेद 31(क) तथा 31(ख) और पच्चीसवें संशोधन द्वारा अंतःस्थापित अनुच्छेद 31(ग) का उद्देश्य संपदाओं के अर्जन का उपबंध करने वाली विधियों, नवम अनुसूची में निर्दिष्ट अधिनियमों तथा विनियमों और निदेशक तत्वों को प्रभावी करने वाली विधियों की रक्षा करना था।

अनुच्छेद 33-35 संसद को शक्ति देते हैं कि वह सैन्य बलों पर प्रयुक्ति के बारे में संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में उपांतरण कर सकती है।

संविधान ने एक ओर व्यक्तियों को प्रदत्त मूल अधिकारों को सीमाओं में आबद्ध कर दिया है तो दूसरी ओर राज्य की गतिविधियों पर भी अंकुश लगा दिए हैं। व्यक्ति को जो मूल अधिकार प्राप्त हैं, वे राज्य की कार्रवाइयों पर रोक या प्रतिबंधों के रूप में हैं। स्वाभाविक ही था कि उन्हें राज्य के लिए अर्थात कार्यपालिका एवं विधायिका के लिए बाध्यकारी बना दिया गया।

अनुच्छेद 13 में घोषणा की गई है कि कोई भी विधि या

कार्यपालिका का आदेश जिस हद तक मूल अधिकारों से असंगत है, उस सीमा तक वह अधिकार सीमा से बाहर और अमान्य माना जाएगा। इस प्रकार संबंधित अनुच्छेद 13 में भारत के अतीत और वर्तमान में प्रचलित सभी विधियों के पुनरीक्षण की व्यवस्था की गई है। हमारा संविधान न केवल कुछ निश्चित मूल अधिकारों की गारंटी देता है, बल्कि अनुच्छेद 32 के अंतर्गत इनके अनुपालन के लिए उपयुक्त प्रक्रिया के माध्यम से सीधे देश के सर्वोच्च न्यायालय का दरवाज़ा खटखटाने के अधिकार की भी गारंटी देता है। इस अनुच्छेद ने जिस अधिकार की गारंटी दी है, उसे संविधान में किए गए उपबंधों के अतिरिक्त किसी अन्य ढंग से स्थगित नहीं किया जा सकता। सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय है कि लोगों को इस अधिकार से संविधान में संशोधन करके भी वंचित नहीं किया जा सकता। संविधान के निर्माण के समय भी डा. अंबेडकर ने इस उपबंध को ''संविधान की मूल आत्मा और मर्म'' बताया था। चूँकि अनुच्छेद 32 के अंतर्गत प्रदत्त संवैधानिक उपचार का अधिकार स्वयं में एक मूल अधिकार है, अतः सर्वोच्च न्यायालय किसी मूल अधिकार की वास्तविक अवहेलना के मामले में राहत देने से इंकार नहीं कर सकता।

सर्वोच्च न्यायालय ने जनहित याचिका की जो नई परिभाषा दी है, उसके अनुसार प्रभावित पक्ष के द्वारा ही न्यायालय में गुहार लगाना आवश्यक नहीं रहा। अदालत तक जा सकने में अक्षम किसी व्यक्ति या जन समूह की ओर से अब कोई भी व्यक्ति एक पत्र भर भेज कर अदालत से फ़रियाद कर सकता है।

नीति निदेशक तत्व

राज्य की नीति के निदेशक तत्व संविधान के भाग 4 (अनुच्छेद 36 से 51) में समाहित हैं। इनके कारण राज्यों पर दायित्व तो आते हैं, परंतु न्यायिक प्रक्रिया के माध्यम से इनका पालन करना सामान्यतः बाध्यकारी नहीं बनाया जा सकता।

अनुच्छेद 37 घोषणा करता है कि निदेशक तत्व "देश के शासन के मूलाधार हैं और निश्चय ही विधि बनाने में इन

सिद्धांतों को लागू करना राज्य का कर्तव्य होगा।" अत: यह स्पष्ट है कि ये संवैधानिक निदेश कोरे नैतिक उपदेश नहीं हैं बल्कि निश्चयात्मक समादेश हैं तथा संविधान के मानव अधिकारों संबंधी उपबंधों के अभिन्न अंग हैं।

संविधान सभा में बोलते हुए डा. अंबेडकर ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि निदेशक तत्वों का आशय यह नहीं है कि वे केवल पवित्र घोषणाएँ बनकर रह जाएँ। इसकी बजाय ये अनुदेशों के दस्तावेज़ के रूप में हैं और जो भी सत्ता में आएगा, उसे "इनका आदर करना ही होगा।" उन्होंने कहा था :

> "संविधान सभा का आशय यह है कि भविष्य में विधायिका तथा कार्यपालिका, दोनों इस भाग में अधिनियमित इन तत्वों के प्रति केवल मौखिक सहानुभूति न जताएँ बल्कि इन्हें देश के शासन के मामले में कार्यपालिका तथा विधायिका द्वारा किए जाने वाले सभी कार्यों का आधार बना दिया जाए।"

एक वास्तविक लोक-कल्याणकारी राज्य के आदर्श ही नीति निदेशक तत्वों के लक्ष्य हैं। साथ ही इनके माध्यम से आर्थिक शोषण, दिल दहला देने वाली आर्थिक असमानता और अन्याय का खात्मा करने तथा राज्य को न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने की ज़िम्मेदारी सौंपने की परिकल्पना भी की गई है। इस प्रकार नीति निदेशक तत्वों की आत्मा कहे जा सकने वाले अनुच्छेद 38 में कहा गया है, "राज्य अपनी अधिकतम क्षमता के अनुसार, एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का विकास और उसकी सुरक्षा कर लोगों का कल्याण करने का प्रयास करेगा, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की हर संस्था से अभिव्यक्त होगा।" अनुच्छेद 39 में कहा गया है कि राज्य अपनी नीतियाँ इस प्रकार लागू करेगा जिससे यह सुनिश्चित हो सके कि सभी स्त्री-पुरुषों को जीवन-यापन के पर्याप्त साधन उपलब्ध होंगे, समाज के भौतिक संसाधनों का इस प्रकार बंटवारा किया जाएगा कि उनसे सामूहिक हित अधिकाधिक सिद्ध हो सके, आर्थिक प्रणाली को इस ढंग से काम नहीं करने दिया जाएगा जिससे धन का केंद्रीकरण हो और उत्पादन के साधन हितों को

नुकसान पहुंचाएं, स्त्री-पुरुष, दोनों को समान काम के लिए समान वेतन मिलेगा, श्रमिकों, स्त्रियों एवं पुरुषों के स्वास्थ्य एवं शक्ति तथा बच्चों की अल्प वयस्कता का दुरुपयोग नहीं होने दिया जाएगा। नागरिकों को आर्थिक आवश्यकताओं से इस तरह बाध्य नहीं होने दिया जाएगा कि वे अपनी आयु और शक्ति की दृष्टि से प्रतिकूल पेशों को अपनाने के लिए मजबूर हो जाएँ और बच्चों तथा युवकों को शोषण से बचाया जाएगा। अनुच्छेद 41 में यह मंशा व्यक्त की गई है कि राज्य अपनी आर्थिक क्षमताओं और विकास के दायरे में बेरोज़गारी, वृद्धावस्था, बीमारी और विकलांगता तथा अन्य अवांछित अभावों के उत्पन्न होने की स्थिति में लोगों के लिए काम एवं शिक्षा का अधिकार तथा सार्वजनिक सहायता सुनिश्चित करने के लिए प्रभावी प्रावधान करेगा। अनुच्छेद 42 एवं 43 में मज़दूरों के लिए जीवन गुज़ारा भत्ता, उपयुक्त कार्य स्थितियाँ, प्रसूति सहायता, अच्छा जीवन स्तर एवं अवकाश तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसरों के भरपूर उपयोग की स्थितियाँ सुनिश्चित करने के लिए कहा गया है।

कुछ अन्य महत्वपूर्ण नीति निर्देशों का समावेश इन अनुच्छेदों में किया गया है : 14 वर्ष तक की आयु के सभी बालक-बालिकाओं के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा के प्रावधान (अनुच्छेद 45), अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं अन्य कमज़ोर वर्गों के हितों को प्रोत्साहन (अनुच्छेद 46), पोषण एवं जीवन दशा के स्तर में उन्नयन और जन स्वास्थ्य में सुधार के बारे में राज्य के कर्तव्य (अनुच्छेद 47), कृषि एवं पशु पालन का व्यवस्थापन तथा गौ-हत्या का निषेध (अनुच्छेद 48), ग्राम पंचायतों का व्यवस्थापन (अनुच्छेद 40), कार्यपालिका और न्यायपालिका का पृथक्करण (अनुच्छेद 50), पूरे देश के लिए समान नागरिक संहिता का प्रवर्तन (अनुच्छेद 44), राष्ट्रीय स्मारकों की सुरक्षा (अनुच्छेद 49), अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को प्रोत्साहन, राष्ट्रों के बीच न्यायपूर्ण और सम्मानजनक पारस्परिक संबंध, अंतर्राष्ट्रीय विधि और संधिगत दायित्वों के लिए सम्मान तथा अंतर्राष्ट्रीय विवादों का पंचाट के माध्यम से फ़ैसला (अनुच्छेद 51)।

संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम 1976 ने जो नए तत्व जोड़े उनका आशय कुछ इस प्रकार था :

1. बच्चों को स्वतंत्र और गरिमामय वातावरण में स्वस्थ विकास के अवसर और सुविधाएँ दी जाएँ (अनुच्छेद 39 च);
2. कानूनी व्यवस्था इस प्रकार काम करे कि न्याय समान अवसर के आधार पर सुलभ हो और राज्य, विशिष्टतया आर्थिक या किसी अन्य निर्योग्यता के मामलों में निशुल्क कानूनी सहायता की व्यवस्था करे (अनुच्छेद 39 क)। यह अधिकार अनुच्छेद 21 में भी अंतर्निहित था (*हरियाणा राज्य बनाम दर्शना*, ए आई आर 1979 एस सी 855; *खत्री बनाम बिहार राज्य*, ए आई आर 1981 एस सी 928, *शुकदास बनाम संघ राज्यक्षेत्र*, ए आई आर 1986 एस सी 991);
3. उद्योगों के प्रबंध में कर्मकारों की भागीदारी सुनिश्चित की जाए (अनुच्छेद 43 क);
4. पर्यावरण का संरक्षण हो तथा उसमें सुधार लाया जाए और वनों तथा वन्य जीवों की रक्षा की जाए (अनुच्छेद 48 क)।

44वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 38 में एक खंड जोड़ दिया गया, जिसमें कहा गया है कि राज्य, विशिष्टतया, आय की असमानताओं को कम करने और व्यष्टियों के बीच तथा विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले और विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए लोगों के समूहों के बीच प्रतिष्ठा, सुविधाओं और अवसरों की असमानता समाप्त करने का प्रयास करेगा।

इसके अलावा (i) अनुच्छेद 31ग में संशोधन करके यह निर्धारित किया गया है कि किसी या सभी निदेशक तत्वों को प्रभावी करने वाली विधि अनुच्छेद 14, 19 या 31 के अंतर्गत किसी भी मूल अधिकार का उल्लंघन करने के कारण शून्य नहीं होगी, और (ii) एक नए अनुच्छेद 31घ में विशिष्ट रूप से प्रावधान किया गया है कि राष्ट्रविरोधी क्रियाकलापों या संगमों के निवारण या प्रतिषेध का अधिकार प्रदान करने वाली कोई विधि इस आधार पर शून्य नहीं होगी कि वह अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अंतर्गत किसी मूल अधिकार से असंगत है।

मूल अधिकार और निदेशक तत्व

मूल अधिकारों और नीति निदेशक तत्वों के बीच कोई वास्तविक विभाजन नहीं है। अधिकार व्यक्तियों को दिए गए हैं और आम तौर पर ये राज्य के विरुद्ध हैं जबकि निर्देशों के माध्यम से राज्य को कुछ दायित्व सौंपे गए हैं ताकि सुशासन की स्थापना और लोक कल्याण सुनिश्चित किया जा सके। वे एक-दूसरे के पूरक हैं। यदि मूल अधिकार सरकार और विधानमंडल के लिए निर्धारित 'मनाहियों' के प्रतिबिम्ब हैं तो नीति निर्देशक तत्व उन्हें सौंपे गए कार्यभारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें कोई द्वंद्व नहीं है।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि जबकि भाग-3 का संबंध वैयक्तिक स्वतंत्रता के क्षेत्रों और राज्य द्वारा उन पर रोक लगाए जा सकने की सीमा से है, भाग-4 का संबंध उन सकारात्मक कर्तव्यों से है जिनका भार सामाजिक और आर्थिक न्याय के आदर्शों को प्राप्त करने के लिए राज्य पर डाला गया है। किंतु, मूल अधिकारों में भी कुछ सकारात्मक प्रतिषेध हैं जो समाज के हितों और ग़रीब नागरिकों के अधिकारों की रक्षा सुस्थापित वर्गों के अतिक्रमण से करना चाहते हैं। यह सारे-का-सारा प्रयास इस बात को सुनिश्चित करने के लिए किया गया है कि कहीं नागरिकों के मूल अधिकार बहुजन हिताय के स्थान पर चंद लोगों की स्वतंत्रताओं का घटिया रूप धारण न कर लें।

मूल कर्तव्य

संविधान में (42वें संशोधन) अधिनियम, 1976 के माध्यम से एक नया भाग 4-क (अनुच्छेद 51क) जोड़ा गया। इसमें नागरिकों के मूल कर्तव्यों से संबंधित घोषणा-पत्र शामिल किया गया है। ऐसा यह सोच कर किया गया कि नागरिकता के साथ कुछ मूल दायित्वों का निर्वाह भी किया जाना चाहिए और संविधान में इनका उल्लेख विशेष रूप में तथा स्पष्ट तौर पर किया जाना चाहिए। अनुच्छेद 51क में समाहित मूल कर्तव्यों का प्रत्यक्ष रूप से अनुपालन कराने के लिए संविधान में कोई उपबंध नहीं है, न ही

इसका उल्लंघन रोकने का कोई प्रावधान है। लेकिन उन्हें न्यायिक प्रक्रिया के दायरे से बाहर मानने वाला कोई उपबंध भी संविधान में नहीं है। संविधान में मूल कर्तव्यों को शामिल करने का उद्देश्य यह है कि नागरिक अपने दायित्वों के प्रति सजग हो जाएँ और देश, देशवासियों और स्वयं उनके हित में उन्हें कुछ 'करने' तथा 'नहीं करने' के बारे में सचेत कर दिया जाए। आज की युग चेतना के संदर्भ में मूल कर्तव्यों से संबंधित अध्याय संविधान का अति मूल्यवान भाग है।

मूल कर्तव्यों के बारे में वर्मा समिति (मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, 1999) का कहना है :

> "मूल कर्तव्यों में तत्वतः जो कुछ भी समाहित है, वह भारतीय जीवन पद्धति से अनिवार्य रूप से संबद्ध कर्तव्यों का संहिताकरण मात्र है ....., मूल कर्तव्यों की अवधारणा और उनके कार्यान्वयन का महत्व समझने और उनका आभ्यांतरीकरण करने के लिए जनता को जागरूक बनाना आवश्यक है। साथ ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले तनाव एवं अशांति से मुक्त सद्भावपूर्ण समाज की संरचना की आवश्यकता पर भी विशेष बल दिया जाना चाहिए।
>
> "भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने कई मामलों में राज्य के कर्तव्यों का निर्धारण करते समय अनुच्छेद 51क में शामिल कर्तव्यों में विश्वास व्यक्त किया है और आवश्यक होने पर इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए निर्देश दिए हैं, अथवा मार्ग दर्शक सिद्धांत प्रतिपादित किए हैं। पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी सुरक्षा एवं संरक्षण तथा वनों, वन्य जीवन एवं वनस्पतियों के क्षरण की रोकथाम आदि के अनेक मामलों में ऐसा ही किया गया। न्यायालय की राय थी कि पर्यावरण की सुरक्षा और पारिस्थितिकी संतुलन को कायम रखना न केवल सरकार बल्कि हर नागरिक का मूलभूत दायित्व है।"

इसका यह आशय नहीं है कि 42वें संशोधन से पहले नागरिकों का कोई कर्तव्य नहीं था। संविधान के भाग-3 में नागरिकों तथा अन्य लोगों को प्रदत्त हर मूल अधिकार के साथ कोई न कोई कर्तव्य और दायित्व भी जुड़ा है। दरअसल किसी समाज में कर्तव्य के निर्वाह के बिना अधिकार की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। अधिकारों और कर्तव्यों में न केवल पारस्परिक सामंजस्य है बल्कि वे एक-दूसरे से अविभाज्य हैं। दोनों एक ही

सिक्के के दो पहलू हैं। एक व्यक्ति का कर्तव्य दूसरे का अधिकार होता है। यदि सभी लोगों को जीने का अधिकार है तो प्रत्येक व्यक्ति की यह ज़िम्मेदारी भी बनती है कि वह मानव जीवन की रक्षा करे और दूसरों को क्षति न पहुँचाए। इसी तरह स्वतंत्रता के अधिकार में यह बात निहित है कि प्रत्येक नागरिक ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करे तथा समाज को ऐसा रूप दे कि हर व्यक्ति की स्वतंत्रता सुनिश्चित हो जाए। स्वयं स्वतंत्रता की वास्तविक प्रकृति ऐसी है कि उसे प्राप्त करने के लिए आत्म-अनुशासन और सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में सामंजस्य को प्रोत्साहित किया जाना अपेक्षित होता है। कारण यह है कि एक व्यक्ति की स्वतंत्रता दूसरे व्यक्ति को वैसी ही स्वतंत्रता-सीमाओं में आबद्ध कर देती है और हर व्यक्ति का यह कर्तव्य होता है कि वह दूसरे लोगों को भी वही अधिकार दे, जो वह स्वयं अपने लिए चाहता है। व्यक्ति की अपनी स्वतंत्रता तभी कायम रह सकती है जब वह अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता का भी सम्मान करे। लोग यदि अपने कर्तव्यों का पालन करें तो उनके अधिकारों को स्वतः शक्ति मिलती है।

जब गांधी जी से मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा के बारे में अपने विचार व्यक्त करने का आग्रह किया गया तब उन्होंने कहा :

> "अधिकारों का स्रोत कर्तव्य हैं। अगर हम सब अपने कर्तव्य निभाते रहें तो अधिकारों को हासिल करना कठिन नहीं होगा। अगर हम कर्तव्य निभाए बिना अधिकारों के पीछे दौड़ेंगे तो वे एक छलावे की तरह हमारी पहुँच से बाहर निकल जाएँगे। हम उन्हें पाने की जितनी कोशिश करेंगे, वे उतनी ही दूर भागते जाएँगे।
>
> "मैंने अपनी निरक्षर किंतु बुद्धिमान माँ से सीखा कि जिन अधिकारों के हम पात्र होना चाहते हैं तथा जिन्हें हम सुरक्षित कराना चाहते हैं वे सभी अच्छी तरह निभाए गए कर्तव्य से प्राप्त होते हैं। अतः जीवित रहने का अधिकार भी हमें तभी प्राप्त होता है जब हम विश्व की नागरिकता के कर्तव्य को पूरा करते हैं। इस एक मूल कथन के आधार पर पुरुष तथा स्त्री के कर्तव्यों की परिभाषा करना तथा प्रत्येक अधिकार को पहले निभाए जाने वाले किसी तदनुरूप कर्तव्य के साथ संबद्ध करना संभवतया काफ़ी आसान है। प्रत्येक अन्य अधिकार को अनुचित रीति से

स्थापित अधिकार सिद्ध किया जा सकता है और उसके बारे में विवाद करने का कोई लाभ नहीं है।"

गांधी जी ने नागरिकों की ज़िम्मेदारियों पर बल दिया। संविधान में मूल कर्तव्यों सम्बन्धी भाग उन्हीं के विचारों के परिप्रेक्ष्य में जोड़ा गया। इस भाग में जिन दस कर्तव्यों का निरूपण किया गया वह इस प्रकार हैं :

1. **संविधान, ध्वज और राष्ट्रगान का सम्मान करना** : संविधान में निष्ठा रखना तथा उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का सम्मान करना भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। ये हमारी नागरिकता के वास्तविक भौतिक आधार हैं। हमसे अपेक्षा की गई है कि हम लोग संविधान के कथन अथवा मंतव्य की अवहेलना करने वाली किसी गतिविधि में भाग न लेकर उसकी गरिमा की रक्षा करेंगे। हमारा देश अत्यंत विशाल है। उसमें अनेक *भाषाएँ, उपसंस्कृतियाँ और धार्मिक तथा जातीय विभिन्नताएँ* अस्तित्वमान हैं, लेकिन देश की मूलभूत एकता का सारतत्व हमारे संविधान में निहित है। हमारा राष्ट्रध्वज एक है, राष्ट्रगान एक है और नागरिकता भी एक है। हम सब एक संविधान से शासित और निर्देशित होते हैं तथा इस प्रक्रिया की राह में हमारी जाति, धर्म, नस्ल, लिंग आदि आड़े नहीं आते। वस्तुतः हमारा संविधान राष्ट्रवादी नेताओं द्वारा जनता से किए गए अनेक वायदों और अभिव्यक्त की गई अनेक प्रतिबद्धताओं का परिणाम है। साथ ही इसमें सामंजस्य, समायोजन और समझौतों के प्रयास भी समाहित हैं। हम और हमारे मूल अधिकार इससे संरक्षित हैं। उसी तरह राष्ट्रध्वज, और राष्ट्रगान हमारे इतिहास, संप्रभुता, एकता और गौरव के प्रतीक हैं। यदि भारत का कोई नागरिक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष कार्यों से संविधान के प्रति असम्मान व्यक्त करता है तो यह न केवल असामाजिक और राष्ट्रविरोधी गतिविधि होगी बल्कि हमारे सभी अधिकारों और एक संप्रभु राष्ट्र के नागरिक के रूप में हमारे अस्तित्व के लिए दुर्भाग्य का प्रतीक भी होगी। इसलिए हर नागरिक को न केवल ऐसी किसी भी गतिविधि में शामिल होने से बचना चाहिए बल्कि हमारे राष्ट्रीय प्रतीक का अपमान करने वाले

हर उपद्रवी की कोशिशों को असफल करने का यथासम्भव प्रयास करना चाहिए। हर राष्ट्र को अपने नागरिकों की समर्पण-भावना तथा उनकी निष्ठा और देशभक्ति पर गर्व होना चाहिए। हमें राष्ट्र को अपने संकीर्ण हितों से ऊपर रखना चाहिए। हम केवल उसी स्थिति में परिश्रम से अर्जित अपनी स्वतंत्रता और संप्रभुता की रक्षा कर सकेंगे।

2. स्वतंत्रता संग्राम के आदर्शों को सँजो कर रखना : भारत के नागरिकों को राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के प्रेरक आदर्शों का अनिवार्य रूप से पोषण और अनुसरण करना चाहिए। स्वतंत्रता संग्राम काफ़ी लंबे समय तक चला था और हज़ारों लोगों ने आज़ादी के लिए अपने प्राणों की आहुति दी थी। देश के लिए हमारे पूर्वजों के बलिदान को स्मरण करना हमारा कर्तव्य है, लेकिन उस अनूठे संग्राम में रचे-बसे आदर्शों को याद करना, उन्हें आत्मसात करना तथा उनका अनुसरण करना उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। संघर्ष केवल भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए नहीं था, वस्तुतः यह संघर्ष संपूर्ण विश्व के लोगों की सामाजिक और आर्थिक मुक्ति का संघर्ष था। न्यायपूर्ण समाज तथा संगठित राष्ट्र का निर्माण और स्वतंत्रता, समानता, अहिंसा, बंधुत्व एवं विश्व शांति के लक्ष्यों की प्राप्ति ही इस संघर्ष के आदर्श थे। यदि हम भारत के नागरिक इन आदर्शों के प्रति जागरूक और प्रतिबद्ध रहते हैं तो रह-रह कर यहाँ-वहाँ प्रकट हो रही विकृत प्रकृति की अनेक विखंडनवादी प्रवृत्तियों के प्रभाव से बच सकते हैं।

धर्म, जाति, अलगाववाद आदि को अपने राजनीतिक उद्देश्यों और सत्ता प्राप्ति के लिए इस्तेमाल करने वाले राजनीतिक दल और नेता स्पष्ट रूप से संविधान में वर्णित मूल कर्तव्यों की अवहेलना कर रहे हैं।

3. भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करना : भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करना हर नागरिक का प्रमुख दायित्व है। शासन की किसी भी लोकतांत्रिक

प्रणाली में संप्रभुता लोगों में निहित होती है। अपनी संप्रभुता की रक्षा करना हमारा स्वयं का दायित्व है। यदि देश की स्वतंत्रता और एकता पर संकट आता है, तो राष्ट्र का अस्तित्व दाँव पर लग जाएगा और यदि राष्ट्र ही नहीं रहा तो कौन बचेगा?

याद रखना चाहिए कि देश की संप्रभुता, एकता और अखंडता का मूल्यों के रूप में उल्लेख सर्वप्रथम संविधान की उद्देशिका में किया गया है। मूल अधिकारों का उल्लेख करने वाले संविधान के भाग में अनुच्छेद 19(2) के अंतर्गत "भारत की संप्रभुता और अखंडता" के हित में भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर उचित प्रतिबंध लगाने की अनुमति दी गई है।

4. देश की रक्षा करना और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा : कहा जाता है कि राज्य की उत्पत्ति का मूल कारण बाह्य शत्रुओं से स्वयं की रक्षा करने की आवश्यकता में निहित है। वर्तमान समय के राष्ट्र-राज्यों के संदर्भ में इस बात को स्वतः सिद्ध माना जाता है कि युद्ध अथवा बाह्य आक्रमण की स्थिति में हर नागरिक तत्परता से राष्ट्र की रक्षा करने के लिए बाध्य है। आजकल युद्ध केवल युद्धभूमि पर नहीं लड़ा जाता, न ही उसे केवल सशस्त्र सेनाएँ जीतती हैं, उसमें व्यापक नागरिक समुदाय की भी अनेक तरह महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कभी-कभी देश की रक्षा के लिए नागरिकों से शस्त्र उठाने की अपेक्षा भी की जाती है। दरअसल नागरिक किसी अन्य के लिए नहीं, बल्कि स्वयं अपनी तथा अपनी संपत्ति की रक्षा के लिए युद्ध करते हैं।

यहाँ पर अनुच्छेद 23(2) का उल्लेख किया जा सकता है। इसमें राज्य को अनुमति दी गई है कि वह नागरिकों के लिए "सार्वजनिक कार्यों हेतु बाध्यकारी सेवा" का प्रावधान कर सकता है, बशर्ते ऐसा करते समय धर्म, जाति, नस्ल, वर्ग अथवा किसी अन्य आधार पर कोई भेदभाव न किया जाए।

5. समरसता और भाईचारे की भावना को बढ़ावा देना : भारत के सभी लोगों के बीच सहबंधुत्व की भावना एवं समरसता को बढ़ावा

देने के कर्तव्य का मूल स्रोत संविधान की उद्देशिका में प्रतिष्ठापित बंधुत्व की मूल धारणा है। भारत बहुजातीय, बहुभाषी, बहुधर्मी और विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं वाला देश है लेकिन इस वैभिन्न्य के बावजूद हम एक हैं, हमारा संविधान, हमारा ध्वज और हमारी नागरिकता एक है। भारत जैसे देश में भाईचारे की भावना स्वत:स्फूर्त ढंग से अभिव्यक्त होनी चाहिए क्योंकि यहाँ तो संपूर्ण विश्व को एक परिवार मानने की मान्यता रही है।

संविधान ने हमारा एक मूल कर्तव्य यह भी निर्धारित किया है कि नारी की गरिमा को आघात पहुँचाने वाले हर क्रियाकलाप को रोकना सुनिश्चित किया जाए। उस देश में जिसमें कि इस आदर्श को प्राचीनकाल से ही मान्यता दी जाती रही है कि जहाँ नारी का सम्मान होता है वहाँ देवताओं का वास होता है, यह भावना स्वत: उपजनी ही चाहिए। अब यह हम पर निर्भर है कि बाद के दिनों में हमारे समाज की छवि धूमिल करने वाले भटकाव और अध:पतन से उबरें। यहाँ यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि मूल अधिकारों से संबंधित अनुच्छेद 23(1) के अंतर्गत मानव के अवैध व्यापार--खरीद-बिक्री--को प्रतिबंधित किया गया है।

6. साँझा संस्कृति की समृद्ध विरासत का परिरक्षण : हमारी साझा संस्कृति की समृद्ध विरासत का परिरक्षण करना प्रत्येक भारतीय का एक और मूल कर्तव्य है। हमारे पास श्रेष्ठतम और समृद्धतम सांस्कृतिक विरासत है। यह संपूर्ण विश्व की विरासत का अंग भी है। हमें अतीत से प्राप्त विरासत को बरकरार रखते हुए इसे भावी पीढ़ियों को सौंपना है। समय की रेत पर हर पीढ़ी अपने पदचिह्न छोड़ जाती है। हमारे पूर्वज तथा उनकी उत्तरवर्ती पीढ़ियाँ अपनी जो कृतियां कलात्मक और उत्कृष्टतम उपलब्धियों के प्रतीक के रूप में हमें सौंप गई हैं, उस मूल्यवान और प्रिय धरोहर को कायम रखना हमारा परम दायित्व है। आने वाली नस्लें हमेशा इतिहास से प्रेरणा ग्रहण करती हैं। उससे उन्हें श्रेष्ठता और उपलब्धियों के और ऊँचे सोपान पर पहुँचने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। हर नागरिक का कर्तव्य है कि वह राष्ट्र के स्मारकों

और कला के प्रतीकों को क्षतिग्रस्त, विरूपित और ध्वस्त होने से बचाए तथा उन्हें बेईमान व्यापारियों और तस्करों के लोभ का शिकार न बनने दे।

भारतीय सभ्यता विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक है, और उसे अपनी पाँच हज़ार साल की अविछिन्न सांस्कृतिक एकता पर गर्व करने का उचित अधिकार हैं। हम सब इस महान संस्कृति और सभ्यता के अंग हैं। कला, शिल्प, स्थापत्य, गणित, ओषधि विज्ञान आदि के क्षेत्र में हमारे योगदान से सभी परिचित हैं। विश्व के कुछ प्राचीनतम, गहनतम और श्रेष्ठतम विचारों और साहित्य का जन्म भारत में हुआ। इनमें क़िले, महल, मंदिर, गुफ़ाओं में उत्कीर्ण चित्र, मस्जिद और चर्च शामिल हैं। इस क्षेत्र को हिंदुत्व, बौद्ध धर्म, जैन धर्म और सिख धर्म की जन्म भूमि होने का गौरव भी प्राप्त है। हमारे अतीत ने हमें शांति, प्रेम, अहिंसा और सत्य का मार्ग दिखाया है। इस देश के नागरिक के तौर पर हमारा कर्तव्य है कि हम इस समृद्ध विरासत और इसके सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा करें तथा प्रेम एवं समरसता के वातावरण में जिएं। नीति निदेशक तत्वों का उल्लेख करते समय संविधान के अनुच्छेद 49 में राज्य को भी निर्देश दिया गया है कि वह राष्ट्रीय, ऐतिहासिक अथवा सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्मारकों, महलों और वस्तुओं की रक्षा करे।

7. पर्यावरण में सुधार : बढ़ते प्रदूषण और पर्यावरण के खतरे को देखते हुए प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह जंगल, झील, नदी और वन्य जीवन जैसे पर्यावरण के सभी घटकों का संरक्षण और उन्नयन करे। साथ ही सभी जीवधारियों के लिए सहानुभूति का परिचय दे। बढ़ते वायु, जल और ध्वनि प्रदूषण तथा जंगलों की बड़े पैमाने पर कटाई के कारण संपूर्ण मानव जाति की भारी क्षति हो रही है। विकास की आवश्यकताओं के नाम पर वनों की विवेक रहित और बेलगाम कटाई हो रही है। इसका परिणाम प्राकृतिक आपदा और असंतुलन के रूप में सामने आ रहा है। वनों की सुरक्षा, नए पौधों के रोपण, नदियों की सफ़ाई, जल-स्रोतों के

संरक्षण, बंजर भूमि, पहाड़ियों और पर्वतों के पुनर्हरितीकरण तथा शहरों, गावों और औद्योगिक इकाइयों में प्रदूषण नियंत्रण कर हम न केवल अपने संगी नागरिकों के भविष्य की, बल्कि स्वयं पृथ्वी की रक्षा करने में सहयोग दे सकते हैं। वस्तुतः आवश्यकता इस बात की है कि लोगों को इस संबंध में सचेत करने के लिए एक सघन जागरूकता अभियान चलाया जाए तथा इस दिशा में नागरिकों की पहल के माध्यम से आगे बढ़ने के लिए एक सुनियोजित रणनीति बनाई जाए। वर्तमान या भविष्य में मनुष्य के जीवन लायक प्रदूषणमुक्त पर्यावरण केवल सरकारी प्रयासों से सृजित नहीं किया जा सकता।

नागरिकों के कर्तव्य के रूप में पर्यावरण की सुरक्षा के ज़िक्र का उद्देश्य एक अन्य अनुच्छेद 48 को बल प्रदान किया जाना था। इस अनुच्छेद में नीति निदेशक तत्वों के अंतर्गत राज्य को पर्यावरण, वन और वन्य जीवन की सुरक्षा का निर्देश दिया गया है।

पृथ्वी, मनुष्य एवं पशुओं की समान रूप से धरोहर है। हमें कोई अधिकार नहीं है कि उन्हें उनके क्षेत्र अथवा जंगलों से विस्थापित करें क्योंकि वे उनके स्वाभाविक निवास हैं। 'सर्वेशम् शांतिर भवतु' (समस्त जीवधारियों और समस्त वातावरण में शांति व्याप्त हो) और 'अहिंसा परमो धर्मः, अहिंसा परमो तपः' (अहिंसा ही महानतम कर्तव्य और महानतम तपस्या है), प्राचीनकाल से ही भारत के आदर्श वाक्य रहे हैं।

8. वैज्ञानिक दृष्टिकोण और मानववाद आदि का विकास : हमारे एक महान राष्ट्रीय नेता जवाहरलाल नेहरू भारतीय नागरिकों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण और अन्वेषण की प्रवृत्ति की आवश्यकता पर काफ़ी ज़ोर देते थे। वह चाहते थे कि हममें अपने समकालीन विश्व को जानने-समझने की जिज्ञासा जगे। बीसवीं सदी में एक ओर तो विज्ञान अति क्रांतिकारी प्रगति के पथ पर अग्रसर था तो दूसरी ओर हमारी पृष्ठभूमि अंधविश्वासों और रूढ़ियों से भरी पड़ी थी। ऐसी हालत में नेहरू जी का उस ढंग से सोचना ज़रूरी था। उन्होंने विज्ञान और प्रौद्योगिकी का अपरिहार्य आधारभूत ढाँचा निर्मित करके आधुनिक औद्योगिक भारत की नींव रखी। अब हर

भारतीय नागरिक का यह परम कर्तव्य है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण और अन्वेषण की प्रवृत्ति को बनाए रखे ताकि तेज़ी से बदलते विश्व के साथ-साथ चला जा सके। संविधान यह भी विहित करता है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी का मानवीय अनुभूतियों के साथ संतुलन कायम किया जाए क्योंकि हर प्रगति का लक्ष्य अंतत: मानव, उसका जीवन स्तर और उसके द्वारा विकसित किए जाने वाले संबंध हैं।

9. सार्वजनिक संपत्ति की सुरक्षा और हिंसा का परित्याग : अत्यंत दुर्भाग्य का विषय है कि विश्व को अहिंसा का उपदेश देने वाले देश के कुछ नागरिक समय-समय पर विवेकरहित हिंसा और सार्वजनिक संपत्ति के विनाश में लिप्त देखे जाते हैं। अत: "सार्वजनिक संपत्ति की सुरक्षा और हिंसा के परित्याग" को मूल कर्तव्य के रूप में निर्धारित किया जाना आवश्यक माना गया।

10. उत्कर्ष की ओर बढ़ने का प्रयास : समय की माँग है कि जीवन के हर क्षेत्र में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का प्रयास किया जाए। कठिन प्रतिद्वंद्विता के दौर से गुज़र रहे विश्व में यह एक मूलभूत आवश्यकता है। कल की दुनिया में टिक पाने की क्षमता उसी में होगी, जो श्रेष्ठतम होगा। इस क्षमता को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि अपने पेशेगत दायित्वों का सम्मान किया जाए, और उत्कर्ष की ओर बढ़ा जाए। सामूहिक क्रियाकलापों वाले क्षेत्रों पर विशेष ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है। बहुधा कहा जाता है कि हम भारतीय व्यक्तिगत स्तर पर तो अत्यंत उत्कृष्ट प्रदर्शन करते हैं, पर हममें सामूहिकता अथवा मिल-जुल कर एक टीम की तरह काम करने की भावना का अभाव है। यदि इस कमी को दूर किया जा सके तो विश्व मानचित्र पर भारत एक तेज़ी से विकास करते देश के रूप में उभर सकता है।

मूल कर्तव्यों का कार्यान्वयन

इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने *राम प्रसाद बनाम उत्तर प्रदेश राज्य*

(ए आई आर 1988, इला. 309) के मामले में मत व्यक्त किया कि संविधान में भाग 4 को शामिल किए जाने से नागरिक-कर्तव्यों के पालन का मसला संवैधानिक विधि और न्यायालय के सीमा-क्षेत्र में आ गया है।

अनुच्छेद 51क(ग) के महत्व की विवेचना करते हुए न्यायालय ने कहा कि इसका उद्देश्य नागरिकों के व्यवहार को नियंत्रित करना और उन्हें उत्कर्ष की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करना था। 'उत्कर्ष से अभिप्राय है--योग्यता, सद्गुण और ईमानदारी से कार्य निष्पादन के मानदंडों पर श्रेष्ठतम सिद्ध होना'। संविधान में अपेक्षा की गई है कि नागरिक अपने कर्तव्यों का अनुपालन आधे-अधूरे मन से नहीं, बल्कि पूरी लगन से करें।

जैसा कि वर्मा समिति (1999) का कहना है, नागरिकों के कुछ मूल कर्तव्यों का अनुपालन कराने के लिए कुछ प्रावधान पहले से ही विद्यमान हैं :

क. राष्ट्रीय ध्वज और राष्ट्रगान का अनुचित उपयोग रोकने के लिए स्वतंत्रता प्राप्ति के तत्काल बाद प्रतीक एवं नाम (दुरुपयोग निवारक) अधिनियम पारित किया गया।

ख. राष्ट्रीय ध्वज, भारतीय संविधान और राष्ट्रगान का असम्मान न हो, यह सुनिश्चित करने के लिए राष्ट्रीय सम्मान अनादर निवारक अधिनियम, 1971 अधिनियमित किया गया।

ग. राष्ट्रीय ध्वज फहराने के सही तरीकों को लोग समझें, यह सुनिश्चित करने के लिए समय-समय पर निर्देश जारी किए गए। इन्हें भारतीय ध्वज संहिता में समाहित कर लिया गया है। यह सभी राज्य सरकारों और संघ राज्य क्षेत्र प्रशासनों को उपलब्ध कराई गई है।

घ. अपराध संबंधी कानूनों में ऐसे अनेक प्रावधान हैं, जो विभिन्न समूहों के बीच धर्म, जाति, जन्मस्थान, आवास एवं भाषा आदि के आधार पर शत्रुता बढ़ाने वाली गतिविधियों को प्रोत्साहन देने वालों को उपयुक्त दंड दिया जाना सुनिश्चित करते हैं। भारतीय दंड संहिता की धारा 153(क) अन्य समुदायों के लोगों में सुरक्षा या दुर्भावना जगाने वाले सभी लेखों, भाषणों,

भाव-भंगिमाओं, गतिविधियों, व्यायामों और कवायदों को प्रतिबंधित करती है।

च. भारतीय दंड संहिता की धारा 153 ख के अंतर्गत राष्ट्रीय अखंडता के लिए घातक सिद्ध होने वाले सभी आरोप और दावे दंडनीय अपराध हैं।

छ. अवैध गतिविधि (निवारक) अधिनियम, 1967 के अंतर्गत किसी भी सांप्रदायिक संगठन को अवैध संगम घोषित किया जा सकता है। धर्म और जाति से संबंधित अपराध भारतीय दंड संहिता की धारा 295-298 (अध्याय 15) के दायरे में आते हैं। नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम 1955 (पूर्ववर्ती अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम 1955) एवं जन प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 123(3) और 3(क) में उद्घोषित किया गया है कि धर्म के आधार पर वोट माँगना और धर्म, नस्ल, जाति, समुदाय अथवा भाषा के आधार पर भारत के विभिन्न वर्गों के नागरिकों के बीच शत्रुता अथवा घृणा की भावना को बढ़ावा देना अथवा बढ़ावा देने का प्रयास करना भ्रष्ट आचरण है। जन प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 8क के अंतर्गत भ्रष्ट आचरण में संलग्न कोई भी व्यक्ति संसद अथवा राज्य विधानमंडल की सदस्यता के लिए अयोग्य ठहराया जा सकता है।

यदि किसी कानून की एक से अधिक व्याख्याएँ संभव हैं, तो उसको व्याख्यायित करते समय न्यायालय निश्चित तौर पर मूल कर्तव्यों को ध्यान में रख सकता है। पर्यावरण की सुरक्षा से संबंधित अनुच्छेद 51क (ग) का न्यायालयों ने विशेष रूप से संज्ञान लिया। सर्वोच्च न्यायालय ने उत्तर प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में उत्खनन कार्य रोकने के लिए मौखिक आदेश दिए। भारतीय वन अधिनियम, 1927 के अंतर्गत कुछ विवादित क्षेत्रों को संरक्षित वन घोषित करने के आदेश भी पारित हुए।

शासकों, विधायकों, मंत्रियों, विधि निर्माताओं और प्रशासकों को न केवल व्यापक नागरिक समुदाय के हितों के प्रति सतर्क रहना होगा, बल्कि उन्हें एक नागरिक के तौर पर स्वयं अपने

कर्तव्यों के प्रति भी सचेत रहना होगा। शासक वर्गों का यह मूलभूत संवैधानिक दायित्व है कि वे नागरिकों को संविधान से प्राप्त मूलभूत अधिकारों के बारे में निरंतर सतर्कता बरतें। वस्तुतः 'राज्य' को जब कभी कोई दायित्व सौंपा जाता है तो उसका निर्वाह पदों पर आसीन नागरिक ही करते हैं।

भारत के नागरिक के रूप में अपनी स्थिति बरकरार रखने के लिए हम काफी हद तक भारतीय संविधान और भारतीय राष्ट्र की एकता एवं अखंडता पर निर्भर हैं। अतः यह हमारा परम कर्तव्य है कि न केवल संविधान के भाग 4(क) में वर्णित नागरिकों के कर्तव्यों का पालन करें, बल्कि संविधान में प्रत्यक्ष अथवा अंतर्निहित नागरिकता संबंधी सभी मूल्यों का सम्मान करें और अपनी सामर्थ्य के सभी साधनों एवं अपने आचरण तथा कार्यों से उनके अनुपालन का प्रयास करें।

हमें जीने का अधिकार तभी प्राप्त होता है, जब हम अच्छे नागरिक के कर्तव्यों का निर्वाह करते हैं। संविधान ने हमारे लिए जो मूल कर्तव्य निर्धारित किए हैं, वे एक नागरिक के रूप में हमारे न्यूनतम कर्तव्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

एक अच्छा नागरिक कानूनों का अनुपालन करता है। सचेत नागरिक व्यक्तिगत हितों को सार्वजनिक हितों के समक्ष गौण मानता है। हर नागरिक को आत्म-अनुशासन के कुछ निश्चित मानदंडों को अपनाना चाहिए। उन्हें अपनी अधम प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखना चाहिए, दूसरों के अधिकारों का सम्मान करना चाहिए, समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का निर्वाह करना चाहिए, राष्ट्र के लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक बनना चाहिए, और अपने मूल कर्तव्यों एवं अधिकारों का निर्वाह करते हुए स्वयं को शांतिपूर्ण जीवनयापन तथा लोकतांत्रिक शासन की कला में प्रशिक्षित करना चाहिए।

ऐसा उत्तरदायी नागरिक समुदाय ही व्यक्तिगत स्तर पर हर नागरिक को, और साथ ही संपूर्ण समाज को उसकी पूरी क्षमता के अनुरूप विकास के अवसर उपलब्ध करा सकता है, एवं लोकतांत्रिक राज्य व्यवस्था अपने शीर्ष पर पहुँच सकती है।

नागरिकों के दस कर्तव्य ईश्वरीय आदेशों के समान हैं। ये नीति और आचार की दृष्टि से हमारे लिए बाध्यकारी हैं। इसके अलावा, संविधान का हर अनुच्छेद नागरिकों पर यह उत्तरदायित्व सौंपता है कि वे इसके शाब्दिक और भावात्मक आशय का अनुपालन करें।

यदि हम अन्य नागरिकों के अधिकारों का सम्मान नहीं करेंगे और उनके प्रति अपने दायित्वों को नहीं निभाएँगे, तो न तो स्वतंत्रता और लोकतंत्र टिक सकेंगे, और न ही नागरिकता का अस्तित्व बच सकेगा क्योंकि नागरिकता की मूल मान्यता और संविधान में निहित बुनियादी मूल्य यही हैं कि हम अन्य नागरिकों को अपने समान मानते हुए उनसे भाई-बहनों जैसा व्यवहार करें तथा उनकी स्वतंत्रता और अधिकारों का सम्मान करें।

अंततः मूल कर्तव्यों में निष्ठा उत्पन्न करने का केवल एक मार्ग है और वह यह है कि लोगों को नागरिकता मूल्यों तथा कर्तव्यों के बारे में शिक्षित किया जाए एवं उनमें पर्याप्त जागरूकता उत्पन्न करके ऐसा अनुकूल वातावरण बनाया जाए जिसमें हर नागरिक स्वयं को गौरवान्वित महसूस करे तथा देश के ऋण से उऋण होना एवं उसके प्रति अपने संवैधानिक कर्तव्यों का निर्वाह करना अपना दायित्व समझे।

7

संविधान का ढाँचा और राज्य व्यवस्था के अंग

कार्यपालिका, विधानपालिका एवं न्यायपालिका

संविधान निर्माताओं ने हमारे लिए संसदीय लोकतांत्रिक प्रणाली चुनी। उसमें मंत्रिमंडल लोक सभा में जन-प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी होता है। किन्तु, भारत कोई छोटा-मोटा, द्वीप के आकार का एकात्मक देश नहीं है, न ही यहाँ ब्रिटेन की तरह का राजतंत्र है। हमारा देश एक विशाल गणराज्य है और संयुक्त राज्य अमरीका की तरह ही हमारे यहाँ भी गणराज्य का अध्यक्ष निर्वाचित राष्ट्रपति होता है। केंद्र और राज्यों के बीच अधिकारों का बंटवारा करके संविधान संघीय राज्य व्यवस्था की स्थापना भी करता है। इस प्रकार हमें एक अनोखी स्थिति प्राप्त है। हम एक साथ ही संसदीय राज्य व्यवस्था और संघीय संरचना वाले गणराज्य की श्रेणी में आ जाते हैं। ब्रिटेन के विपरीत हमारा एक लिखित संविधान है। यह राज्य के तीन मुख्य अंगों की संस्थापना करता है। ये अंग हैं--कार्यपालिका, विधानपालिका (विधायिका) और न्यायपालिका। साथ ही हमारा संविधान संघ और राज्यों के स्तर पर अलग सरकारों का प्रावधान करता है। संविधान राज्य के तीन अंगों तथा संघ और राज्यों के अधिकार क्षेत्रों और पारस्परिक संबंधों की व्याख्या करता है।

राष्ट्रपति

हमारे संविधान की योजना में राष्ट्रपति का पद सर्वाधिक सम्मान, गरिमा तथा प्रतिष्ठा का है। संघ की समस्त कार्यकारी शक्तियाँ उसी में निहित होती हैं। वह इनका प्रयोग संविधान-सम्मत ढंग से प्रत्यक्षत:, अथवा अपने अधीनस्थ अधिकारियों के माध्यम से करता है। भारत सरकार के सभी प्रशासकीय कार्य राष्ट्रपति के नाम पर किए जाते हैं। रक्षा बलों की सर्वोच्च कमान उसी में निहित होती है और उसका प्रयोग विधि-सम्मत ढंग से किया जाता है।

प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति वह प्रधानमंत्री की सलाह से करता है। सभी मंत्री अपने पद राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत धारण करते हैं।

संसद के दोनों सदनों के साथ-साथ राष्ट्रपति भी संसद का अभिन्न अंग होता है। वह दोनों सदनों को अधिवेशन के लिए आहूत करता है, उनके अधिवेशनों का सत्रावसान करता है और लोक सभा को भंग कर सकता है। प्रति वर्ष प्रथम सत्र के प्रारंभ में तथा हर आम चुनाव के बाद वह दोनों सदनों के समवेत सदस्यों को संबोधित करता है। राष्ट्रपति, अन्यथा भी, संसद के दोनों सदनों को संदेश भेज सकता है और उनमें से प्रत्येक को अथवा दोनों को संबोधित कर सकता है। संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित सभी विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाना अनिवार्य है। राष्ट्रपति के अनुमोदन के बाद ही वे कानून बन सकते हैं। कतिपय श्रेणियों के विधेयकों को (यथा धन-विधेयकों को) केवल राष्ट्रपति की सिफ़ारिश से ही पुर:स्थापित तथा संचालित किया जा सकता है।

ज़ब संसद के दोनों सदनों का सत्र न चल रहा हो, और राष्ट्रपति इस संबंध में संतुष्ट हो कि तत्काल कार्यवाही करना ज़रूरी है, तो वह अध्यादेश जारी कर सकता है और इन अध्यादेशों में वही शक्ति तथा प्रभाव होगा जो संसद द्वारा पारित विधियों का होता है। ये अध्यादेश अंतरिम या अस्थायी विधान के

रूप में होते हैं क्योंकि उन्हें जारी रखने के लिए ज़रूरी है कि उन पर संसद का अनुमोदन प्राप्त किया जाए और अध्यादेशों के स्थान पर विधियां बनाई जाएं। राष्ट्रपति केवल उन्हीं मामलों में अध्यादेश जारी कर सकता है जिनके बारे में संसद विधियां बना सकती है। आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्रपति लोक सभा के अस्थायी अध्यक्ष की तथा राज्य सभा के कार्यकारी सभापति की नियुक्ति करता है। यदि किसी विधेयक के बारे में दोनों सदनों के बीच अंतिम रूप से असहमति हो जाए तो वह दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाता है।

राष्ट्रपति प्रति वर्ष संसद के समक्ष सरकार का बजट रखवाता है। संविधान में बजट को 'वार्षिक वित्तीय विवरण' कहा गया है। कुछ अन्य संवैधानिक कृत्यकारियों की रिपोर्टें भी राष्ट्रपति रखवाता है। वे हैं-- भारत का नियंत्रक तथा महालेखापरीक्षक, वित्त आयोग, संघ लोक सेवा आयोग, अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों तथा पिछड़े वर्गों के आयोग के लिए विशेष अधिकारी। वह लोक सभा के लिए आंग्ल-भारतीय समुदाय के अधिक-से-अधिक दो सदस्यों को नामज़द कर सकता है, यदि उसकी राय हो कि उस समुदाय का पर्याप्त प्रतिनिधित्व लोक सभा में नहीं हुआ है। राष्ट्रपति राज्य सभा के लिए 12 सदस्यों का नाम-निर्देशन भी करता है। वे ऐसे व्यक्ति होने चाहिए जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला और समाज-सेवा जैसे विषयों के बारे में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव हो। इसके अलावा, उसे यह अधिकार है कि वह निर्वाचन आयोग की राय जान लेने के बाद यह निर्णय करे कि क्या कोई विधिवत निर्वाचित सदस्य संविधान के अनुच्छेद 102(1) में विहित निर्योग्यताओं की परिधि में आता है। इस मामले में उसका निर्णय अंतिम होता है।

उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों, भारत के महान्यायवादी, भारत के नियंत्रक तथा महालेखापरीक्षक, राज्यपालों आदि राज्य के अन्य सभी उच्च कृत्यकारियों की नियुक्ति राष्ट्रपति ही करता है।

अनुच्छेद 72 के अधीन राष्ट्रपति को शक्ति प्राप्त है कि वह उन सभी मामलों में जिनमें दंड सेना न्यायालय ने दिया हो, दंड संघीय कानून के विरुद्ध अपराध के लिए हो, अथवा दंड मृत्युदंड हो, किसी व्यक्ति के दंड को क्षमा, उसका प्रविलंबन, विराम या परिहार कर सके अथवा दंड का निलंबन, परिहार या लघुकरण कर सके। अनुच्छेद 72 के अधीन राष्ट्रपति की शक्ति न्यायपालिका का मुँह नहीं ताकती। वह अपीलीय न्यायालय के रूप में काम नहीं करता। उद्देश्य यह होता है कि यदि न्यायपालिका से कोई भूल हो जाए तो उसे सुधार दिया जाए। इसके अलावा वह ऐसी अवस्था में भी राहत देने का फ़ैसला कर सकता है जहाँ उसे लगे कि दंड अति कठोर है।

अनुच्छेद 352 के अधीन राष्ट्रपति समूचे भारत में या उसके किसी भाग में आपात स्थिति की घोषणा कर सकता है, यदि वह संतुष्ट हो जाए कि ऐसी गंभीर स्थिति विद्यमान है जिससे युद्ध या बाहरी हमले या सशस्त्र विद्रोह से भारत या उसके राज्य क्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा संकट में है। अनुच्छेद 354 के अधीन राष्ट्रपति राजस्वों के वितरण को सीमित या प्रतिबंधित कर सकता है। जब आपात की घोषणा लागू हो तो राष्ट्रपति अनुच्छेद 359 के अंदर मूल अधिकारों के प्रवर्तन को निलंबित कर सकता है। यदि किसी राज्य में संवैधानिक तंत्र विफल हो जाए तो अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति उद्घोषणा द्वारा उस राज्य में राष्ट्रपति का शासन लागू कर सकता है। अनुच्छेद 360 राष्ट्रपति को वित्तीय आपात की घोषणा करने का अधिकार प्रदान करता है। अतः राष्ट्रपति की आपात संबंधी शक्तियाँ कठोर तथा दूरगामी प्रभाव वाली हैं।

संक्षेप में, (1) राष्ट्रपति के पास कार्यपालिका शक्तियाँ हैं जिनका प्रयोग वह सीधे स्वयं या अपने अधिकारियों के माध्यम से कर सकता है। (2) उसके पास उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों तथा राज्य के अन्य उच्च कृत्यकारियों को नियुक्त करने की शक्तियाँ हैं। (3) उसके पास सैन्य शक्तियाँ हैं, वह सशस्त्र बलों का सर्वोच्च कमांडर होता है। वह युद्ध तथा

शांति की घोषणा कर सकता है। (4) उसके पास क्षमा, प्रविलंबन आदि प्रदान करने की शक्ति होती है। (5) उसके पास राजनयिक शक्तियाँ होती हैं, वह राजदूतों की नियुक्ति भी कर सकता है और विदेशी राजनयिक प्रतिनिधियों के पद के प्रमाणपत्र भी प्राप्त कर सकता है। (6) उसके पास विधायी शक्तियाँ होती हैं यथा, वह दोनों सदनों की बैठकें बुला सकता है और उनका सत्रावसान कर सकता है, लोक सभा को भंग कर सकता है, विधेयकों आदि को अनुमति दे सकता है और कानूनी शक्ति वाले अध्यादेश जारी कर सकता है। (7) उसके पास आपात घोषणा की शक्ति होती है।

शानदार शक्तियों के इस पूरे ठाट-बाट के बावजूद हमारे राष्ट्रपति के पद के बारे में सोचा जाता है कि वह एक संवैधानिक राज्याध्यक्ष हैं। यह स्मरण रखना होगा कि स्वयं अनुच्छेद 53 में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि संघ की कार्यपालिका-शक्ति का प्रयोग राष्ट्रपति "संविधान के अनुसार" ही करेगा और सशस्त्र बलों के सर्वोच्च कमांडर के रूप में राष्ट्रपति की शक्तियों के प्रयोग पर भी ''विधि का अंकुश'' होगा। अनुच्छेद 60 के अधीन भी राष्ट्रपति 'संविधान तथा विधि के परिरक्षण, संरक्षण तथा रक्षण' की शपथ लेता है। अनुच्छेद 74(1) राष्ट्रपति से अपेक्षा करता है कि वह अपने सभी कृत्यों का निर्वहन करते समय केवल मंत्रिपरिषद की सहायता तथा सलाह से ही काम करेगा। हमने मंत्रियों के उत्तरदायित्व वाली जिस संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया है, उससे भी यही निष्कर्ष निकलता है। उच्चतम न्यायालय ने अपने विभिन्न निर्णयों में इस स्थिति को मान्यता प्रदान की है कि राष्ट्रपति एक संवैधानिक अध्यक्ष है और उसके लिए अनिवार्य है कि वह मंत्रिपरिषद की सलाह से काम करे। हमारी प्रणाली में वास्तविक कार्यपालिका-शक्ति मंत्रिपरिषद में निहित है। इसके अलावा, राष्ट्रपति की शक्तियों के प्रयोग के मामले में सामान्य स्थिति तथा आपात स्थिति के बीच संविधान कोई विभेद नहीं करता। आपात स्थिति में शक्तियों के किसी स्वविवेकी प्रयोग के बारे में कोई विशेष प्रावधान नहीं है। राष्ट्रपति द्वारा किए जाने वाले सभी शक्तियों के प्रयोग पर अनुच्छेद 74 का अंकुश है। अतः

मंत्रिपरिषद की सलाह से राष्ट्रपति समान रूप से बँधा हुआ है, चाहे स्थिति आपात स्थिति हो या सामान्य स्थिति। 44वें संविधान संशोधन ने अंततः स्थिति के सभी संदेहों को मिटा दिया। उसने यह स्पष्ट कर दिया कि राष्ट्रपति आपात की घोषणा तभी कर सकता है जब लिखित रूप में उसे यह संदेश प्राप्त हो जाए कि केंद्रीय मंत्रिमंडल ने उसे ऐसा करने की सलाह देने का निर्णय कर लिया है।

भले ही संविधान के अनुसार राष्ट्रपति का दायित्व है कि वह मंत्रिपरिषद की सलाह से काम करे, फिर भी ऐसे कुछ धुंधले क्षेत्र हैं जहाँ अब भी राष्ट्रपति को अपने विवेक तथा बुद्धि का उपयोग करना पड़ता है : पदधारी प्रधानमंत्री की अचानक मृत्यु की दशा में प्रधानमंत्री की नियुक्ति; ऐसी मंत्रिपरिषद की सलाह पर लोकसभा का विघटन जिसने लोक सभा में बहुमत का समर्थन गँवा दिया हो या जिसके विरुद्ध अविश्वास-प्रस्ताव पारित कर दिया गया हो; और उस स्थिति में मंत्रियों की बर्खास्तगी जब मंत्रिपरिषद ने लोक सभा का विश्वास गँवा दिया हो पर वह इस्तीफ़ा देने के लिए तैयार न हो।

राष्ट्रपति का चुनाव : आम धारणा के विपरीत हमारा राष्ट्रपति भी अमरीका के राष्ट्रपति की तरह एक निर्वाचकमंडल द्वारा चुना जाता है। लेकिन यहाँ के निर्वाचकमंडल में संसद के दोनों सदनों के तथा राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य होते हैं। राष्ट्रपति का चुनाव, आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली एवं एकल संक्रमणीय मत द्वारा होता है। संविधान के अनुच्छेद 71 में निर्धारित किया गया है कि राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के चुनाव के संबंध में उपजे सभी विवादों और संदेहों की जाँच की जाएगी और उनके संबंध में सर्वोच्च न्यायालय निर्णय करेगा। उसका निर्णय अंतिम माना जाएगा।

सर्वोच्च न्यायालय ने राय व्यक्त की है कि कुछ राज्य विधान सभाओं के भंग होने के कारण निर्वाचकमंडल के अधूरे होने अथवा पूर्णतया गठित न होने के आधार पर राष्ट्रपति पद के चुनाव को न तो स्थगित, और न ही रद्द किया जा सकता है।

महाभियोग की प्रक्रिया : अनुच्छेद 61 का उपबंध है कि संविधान के अतिक्रमण के आधार पर महाभियोग चलाकर राष्ट्रपति को उसके पद से हटाया जा सकता है। महाभियोग का आरोप संसद के किसी भी सदन में लगाया जा सकता है पर उसके लिए एक संकल्प प्रस्तुत करना होगा जिस पर उस सदन की कुल सदस्य-संख्या के कम-से-कम एक चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षर हों। संसद के दोनों सदनों द्वारा दो-तिहाई बहुमत से पारित होने पर ही संकल्प प्रभावी हो सकता है।

राष्ट्रपति की अवधि : अनुच्छेद 62(1) में कहा गया है कि राष्ट्रपति की पदावधि की समाप्ति से हुई रिक्ति को भरने के लिए निर्वाचन, पदावधि की समाप्ति से पहले ही पूरा कर लिया जाना चाहिए।

अनुच्छेद 56(1) का उपबंध है कि राष्ट्रपति अपने पदग्रहण की तारीख से पाँच वर्ष की अवधि तक पद धारण करेगा। वह उपराष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षरयुक्त लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा। राष्ट्रपति अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने पर भी तब तक पद धारण करता रहेगा जब तक उसका उत्तराधिकारी अपना पद ग्रहण न कर ले।

उपराष्ट्रपति

भारत के राष्ट्रपति के बाद अधिकृत अग्रता-अधिपत्र में सर्वोच्च स्थान उपराष्ट्रपति को दिया गया है। अतः उसका पद उच्च गरिमा एवं प्रतिष्ठा वाला है। उपराष्ट्रपति राज्य सभा का पदेन सभापति होगा। यह अमरीकी प्रथा का अनुसरण है। राज्य सभा के सभापति के रूप में वह राज्य सभा की कार्यवाहियों का सभापतित्व करता है और लोक सभा में अपने प्रतिरूप अध्यक्ष की भाँति ही सभा के सभी मामलों से संबद्ध कृत्यों का निर्वहन करता है। लेकिन जहाँ तक उपराष्ट्रपति के कृत्यों का संबंध है, संविधान में उसे कोई कृत्य नहीं सौंपे गए हैं। वह राष्ट्रपति की मृत्यु, उसकी बर्खास्तगी अथवा पद-त्याग की स्थिति में उसका पद रिक्त होने पर राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वाह करेगा।

उपराष्ट्रपति का निर्वाचन संसद के दोनों सदनों के सदस्यों से मिलकर बनने वाले निर्वाचकमंडल के सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा किया जाता है।

मंत्रिपरिषद

संविधान में प्रावधान है कि राष्ट्रपति को उसके कृत्यों में सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी जिसका प्रधान, प्रधानमंत्री होगा और राष्ट्रपति उनकी सलाह के अनुसार कार्य करेगा। लेकिन राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद से ऐसी सलाह पर पुनर्विचार करने की अपेक्षा कर सकता है। राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के बाद दी गई सलाह के अनुसार ही कार्य करेगा।

'एक मंत्रिपरिषद होगी', इसका अर्थ यही लगाया जाता है कि सदैव उसका अस्तित्व होगा ही। संविधान ऐसी स्थिति की कल्पना नहीं करता जहाँ न तो कोई प्रधानमंत्री हो और न ही कोई मंत्रिपरिषद। संघीय स्तर पर संवैधानिक तंत्र के ठप्प हो जाने तथा राष्ट्रपति के सीधे शासन के बारे में कोई उपबंध नहीं है, जैसा कि राज्यों के लिए अनुच्छेद 356 में है। 44वां संशोधन राष्ट्रपति को यह अवसर प्रदान करता है कि वह मंत्रिपरिषद को सलाह एवं चेतावनी दे और किसी मामले पर पुनर्विचार किए जाने का आग्रह करे एवं उसके बाद ही प्रस्तावित कार्यविधि को स्वीकार करे और उस पर अपने अनुमोदन का ठप्पा लगाए।

मंत्रिमंडल के निर्णय गोपनीयता से किए जाते हैं। राष्ट्रपति को जो सलाह दी जाती है, वह भी राष्ट्रपति तथा मंत्रिपरिषद के बीच गोपनीय रहती है। अतः उन्हें न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती।

अनुच्छेद 75 के अधीन प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति वह प्रधानमंत्री की सलाह पर करता है। मंत्री राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत पद धारण करते हैं। मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होती है।

जहाँ राष्ट्रपति को अपने कृत्यों के निर्वहन में प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में मंत्रिपरिषद की सलाह से पूर्ण मार्गदर्शन मिलता है, वहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि प्रधानमंत्री की नियुक्ति के सर्वाधिक नाज़ुक कृत्य का निर्वहन वह किसकी सलाह से करता है। जहाँ तक संविधान की शब्दावली का संबंध है, राष्ट्रपति लगभग किसी को भी प्रधानमंत्री के रूप में नियुक्त कर सकता है पर शर्त केवल यह है कि उसे लोक सभा सदस्यों के बहुमत का समर्थन प्राप्त होना चाहिए। यदि किसी पार्टी, मोर्चे अथवा गठबंधन को लोक सभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो तो कोई कठिनाई नहीं होती, क्योंकि ऐसे मामलों में सुस्थापित संसदीय प्रथाओं तथा परिपाटियों के अनुसार राष्ट्रपति को बहुमत वाली पार्टी के नेता को आमंत्रित करना पड़ता है कि वह प्रधानमंत्री का पदभार सँभाले और सरकार बनाए। लेकिन जहाँ कोई एक पार्टी, मोर्चा अथवा गठबंधन अपने बलबूते पर सरकार बनाने की स्थिति में न हो, वहाँ चयन में राष्ट्रपति की भूमिका बड़ी ही नाज़ुक तथा कठिन हो जाती है। हो सकता है कि यह निर्णय करने में उसे अपनी समूची प्रतिभा लगानी पड़े कि कौन सा नेता लोक सभा का विश्वास प्राप्त करने में सर्वाधिक सफल हो सकता है। अब तक का प्रचलित नियम यही रहा है कि सबसे बड़ी पार्टी या गठबंधन के नेता को आमंत्रित किया जाए।

जहाँ यह कहा जाता है कि मंत्रियों की नियुक्ति भी राष्ट्रपति करता है और वे राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत पद धारण करते हैं, वहाँ वास्तव में स्थिति यह है कि उनका चयन प्रधानमंत्री करता है क्योंकि राष्ट्रपति ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति नहीं कर सकता जिसकी सिफ़ारिश प्रधानमंत्री ने न की हो। सभी मंत्री प्रधानमंत्री के प्रसादपर्यंत पद धारण करते हैं। यदि प्रधानमंत्री किसी मंत्री से अप्रसन्न या असंतुष्ट हो जाता है तो वह उसे पद-त्याग की सलाह दे सकता है, राष्ट्रपति को उसे बर्खास्त करने की सलाह दे सकता है, अथवा अपनी मंत्रिपरिषद का इस्तीफा दे सकता है और संबद्ध मंत्री का नाम काटकर उसका पुनर्गठन कर सकता है।

ब्रिटेन में संकल्पना मंत्रियों के व्यक्तिगत तथा सामूहिक

उत्तरदायित्व की है। लेकिन हमारा संविधान केवल सामूहिक उत्तरदायित्व का प्रावधान करता है। इसका अर्थ है कि किसी एक मंत्री के प्रति अविश्वास प्रस्ताव नहीं लाया जा सकता। सरकार के सभी कार्यों के लिए समूची मंत्रिपरिषद लोक सभा के प्रति संयुक्त रूप से उत्तरदायी है। अतः वह खड़ी भी होती है एक साथ और गिरती भी है एक साथ। यदि वह लोक सभा का विश्वास गँवा देती है तो समूची मंत्रिपरिषद को इस्तीफ़ा देना ही होगा। इसके अलावा, सामूहिक उत्तरदायित्व का अर्थ है कि मंत्रियों को सार्वजनिक रूप से अलग-अलग वाणियों में नहीं बोलना चाहिए। यदि किसी मंत्री का मतभेद मंत्रिमंडल के किसी निर्णय अथवा नीति से हो जाए तो उसके लिए अनिवार्य है कि या तो वह इस्तीफ़ा दे दे या फिर बराबर के तथा संयुक्त उत्तरदायित्व को स्वीकार कर ले।

प्रधानमंत्री : प्रधानमंत्री को विशेष रूप से यह दायित्व सौंपा गया है कि वह राष्ट्रपति को प्रशासन एवं विधान से संबंधित सभी निर्णयों से अवगत कराए, राष्ट्रपति द्वारा माँगी गई इन मामलों से संबंधित सूचनाएँ उसे उपलब्ध कराए एवं यदि किसी मामले में कोई एक मंत्री निर्णय ले चुका है और राष्ट्रपति चाहता है कि उसे मंत्रिपरिषद के समक्ष प्रस्तुत किया जाए, तो प्रधानमंत्री उस मामले को मंत्रिपरिषद के सम्मुख रखे।

कहा जाता है कि हर जगह संसदीय सरकार निरंतर प्रधानमंत्रीय सरकार का रूप लेती जा रही है। अन्ततः यह निष्कर्ष निकलता है कि काफी कुछ प्रधानमंत्री के व्यक्तित्व पर निर्भर है। यानी इस बात पर निर्भर है कि उसे देश, अपनी पार्टी अथवा गठबंधन और राष्ट्र का कितना समर्थन हासिल है। प्रधानमंत्री को संरक्षण प्रदान करने के अधिकार व्यापक स्तर पर प्राप्त हैं। सभी मंत्री उसकी संस्तुति पर नियुक्त किए जाते हैं और उसकी अपेक्षा के अनुसार पद मुक्त कर दिए जाते हैं। प्रधानमंत्री, मंत्रियों के बीच काम का बँटवारा करता है। वह अपनी इच्छानुसार उनके विभाग बदल सकता है। प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति और मंत्रिपरिषद के बीच संवाद संप्रेषण का माध्यम भी है।

विधायिका

संघ की विधायिका का नाम है भारतीय संसद। यह राष्ट्रपति और दो सदनों से मिलकर बनी है। सदनों के नाम हैं राज्य सभा और लोक सभा। संसद के तीन घटकों में केवल लोक सभा का ही विघटन हो सकता है। राज्य सभा एक स्थाई और निरंतर चलने वाली सभा है।

राज्य सभा

राज्य सभा अपने नाम के अनुरूप राज्यों की परिषद है। वह अप्रत्यक्ष रूप से जनता का प्रतिनिधित्व करती है क्योंकि उसका समूहन संघ, राज्यों तथा संघ राज्य क्षेत्रों के अनेक अंगों के रूप में होता है और राज्य सभा के सदस्यों का निर्वाचन राज्य विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य आनुपातिक पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा करते हैं। संघ के विभिन्न राज्यों को राज्य सभा में बराबर का प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है। भारत के प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधियों की संख्या अधिकतर उसकी आबादी पर निर्भर करती है।

राज्य सभा में इस समय 245 सदस्य हैं। विवरण इस प्रकार है :

आंध्र प्रदेश-18
अरुणाचल प्रदेश-1
असम-7
उत्तरांचल-3
बिहार-16
गोवा-1
गुजरात-11
छत्तीसगढ़-5
झारखंड-6
हरियाणा-5
हिमाचल प्रदेश-3
जम्मू-कश्मीर-4
कर्नाटक-12
केरल-9
महाराष्ट्र-19
मध्य प्रदेश-11
मणिपुर-1
मेघालय-1
मिज़ोरम-1
नागालैंड-1
उड़ीसा-10
पंजाब-7
राजस्थान-10
सिक्किम-1

तमिलनाडु-18
त्रिपुरा-1
उत्तर प्रदेश-31
पश्चिम बंगाल-16
दिल्ली-3
पांडिचेरी-1
नामनिर्देशित-12

जहाँ राज्य सभा के किसी एक सदस्य का कार्यकाल 6 वर्ष का होता है, वहाँ उसके सदस्यों में से यथासंभव एक तिहाई सदस्य विधि द्वारा इस निमित्त किए गए उपबंधों के अनुसार प्रत्येक द्वितीय वर्ष की समाप्ति पर निवृत्त हो जाते हैं। उपराष्ट्रपति का चुनाव संसद के दोनों सदनों के सदस्य करते हैं और वह राज्य सभा का पदेन सभापति होता है। पर उपसभापति का चुनाव राज्य सभा के सदस्य अपने सदस्यों में से करते हैं।

लोक सभा

दूसरा सदन लोक सभा यानी लोक सदन है। इसका निर्वाचन जनता प्रत्यक्ष रूप से करती है। भारत का हर नागरिक जिसकी आयु 18 वर्ष से कम नहीं है, लोक सभा के चुनावों में वोट देने का अधिकारी है, जब तक कि विधि के अधीन उसे अन्यथा अयोग्य न ठहरा दिया जाए। संविधान का उपबंध है कि लोक सभा में राज्यों के प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों के प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने गए 530 से अधिक तथा संघ राज्य क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करने के लिए ऐसी रीति से जो संसद विधि द्वारा उपबंधित करे, चुने गए 20 से अधिक सदस्य नहीं होंगे। इसके अलावा, राष्ट्रपति आंग्ल-भारतीय समुदाय को प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए अधिक-से-अधिक दो सदस्य नामज़द कर सकता है। इस प्रकार, संविधान में लोक सभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या 552 निश्चित की गई है। इस समय लोक सभा में सदस्यों की कुल संख्या 545 है :

राज्य : आंध्र प्रदेश-42, अरुणाचल प्रदेश-2, असम-14, उत्तरांचल-5, बिहार-40, गोवा-2, गुजरात-26, छत्तीसगढ़-11, झारखंड-14, हरियाणा-10, हिमाचल प्रदेश-4, जम्मू-कश्मीर-6,

कर्नाटक-28, केरल-20, महाराष्ट्र-48, मध्य प्रदेश-29, मणिपुर-2, मेघालय-2, मिज़ोरम-1, नागालैंड-1, उड़ीसा-21, पंजाब-13, राजस्थान-25, सिक्किम-1, तमिलनाडु-39, त्रिपुरा-2, उत्तर प्रदेश-80, पश्चिम बंगाल-42; **संघ राज्य क्षेत्र** : अंडमान निकोबार द्वीप समूह-1, चण्डीगढ़-1, दादर तथा नागर हवेली-1, दिल्ली (राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र)-7, दमन तथा दीव-1, लक्षद्वीप-1, पांडिचेरी-1, मनोनीत आंग्ल-भारतीय-2

समस्त निर्वाचन-सदस्य संख्या को राज्यों में इस प्रकार विभाजित किया गया है कि लोक सभा में प्रत्येक राज्य को आवंटित स्थानों की संख्या ऐसी हो कि उस संख्या से राज्य की जनसंख्या का अनुपात सभी राज्यों के लिए यथासाध्य एक-सा ही हो। इस प्रयोजन के लिए जनसंख्या से अभिप्राय है 1971 की जनगणना में निश्चित जनसंख्या। सन 2000 तक लोकसभा की सीटों की संख्या में कोई परिवर्तन नहीं होना था। अब प्रस्ताव है कि यह अवधि 2026 या 2011 तक बढ़ा दी जाए।

लोक सभा में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थानों का आरक्षण राज्यवार जनसंख्या-अनुपात के आधार पर किया गया है। मूलतया आरक्षण दस वर्षों के लिए था लेकिन उसे हर बार अगले दस वर्षों के लिए बढ़ाया जा रहा है। 79वें संशोधन द्वारा इसे सन 2010 तक के लिए बढ़ा दिया गया है।

लोक सभा की अवधि उसकी प्रथम बैठक के लिए नियत तिथि से पाँच वर्षों की है। पाँच वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने पर स्वत: विघटन हो जाता है। कुछ परिस्थितियों में लोक सभा की पूर्ण अवधि समाप्त होने से पूर्व ही उसका विघटन किया जा सकता है। जब आपात की घोषणा लागू हो तब संसद लोक सभा की अवधि को बढ़ा सकती है जो एक बार में एक वर्ष से अधिक नहीं होगी और घोषणा के लागू न रहने के बाद किसी भी दशा में उसका विस्तार छह मास की अवधि से अधिक नहीं होगा। वस्तुतया प्रथम लोक सभा से ही हर बार लोक सभा का विघटन उसकी पूर्ण अवधि समाप्त होने से पूर्व किया गया है। एक बार जब आपात के

दौरान उसकी अवधि को बढ़ाया गया था तो बढ़ाई गई अवधि के समाप्त होने से पूर्व ही लोक सभा का विघटन कर दिया गया था।

सदस्यता की अर्हता : कोई व्यक्ति सदस्य के रूप में चुने जाने का पात्र तभी होगा जब वह भारत का नागरिक हो। राज्य सभा की सदस्यता के लिए उसकी आयु कम-से-कम तीस वर्ष की और लोक सभा की सदस्यता के लिए उसकी आयु कम-से-कम 25 वर्ष की होनी चाहिए। अतिरिक्त अर्हताएं विधि द्वारा विहित की जा सकती हैं।

सदस्यता के लिए निरर्हताएं : कोई व्यक्ति संसद के किसी सदन का सदस्य चुने जाने के और सदस्य होने के योग्य नहीं होगा यदि वह—(1) भारत का नागरिक नहीं है अथवा अन्यथा किसी विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा रखता है; (2) अनुन्मोचित दिवालिया है अथवा विकृतचित है और उसके बारे में सक्षम न्यायालय की घोषणा विद्यमान है; (3) भारत सरकार के या राज्य सरकार के अधीन कोई लाभ का पद धारण करता है, सिवाय मंत्री पद के अथवा उस पद के जिसके बारे में संसद ने विधि द्वारा छूट दी है; और (4) उसे संसद द्वारा बनाए गए किसी कानून के अधीन अयोग्य ठहराया गया है। दल-बल के आधार पर भी किसी व्यक्ति को अयोग्य ठहराया जा सकता है।

संसद के अधिकारी

संविधान में लोक सभा के लिए अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष का और राज्य सभा के लिए सभापति तथा उपसभापति का उपबंध किया गया है। भारत का उपराष्ट्रपति राज्य सभा का पदेन सभापति होता है। उपसभापति का चुनाव राज्य सभा अपने सदस्यों में से करती है। अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष का चुनाव लोक सभा अपने सदस्यों में से करती है।

संसद के सत्र

राष्ट्रपति समय-समय पर संसद के प्रत्येक सदन को अधिवेशन के लिए बुलाता है। लेकिन अनुच्छेद 85(1) क में उपबंध है कि सत्रों के बीच छह मास का अंतर नहीं होगा। सामान्यतया प्रतिवर्ष संसद के तीन सत्र होते हैं अर्थात बजट-सत्र (फरवरी-मई), वर्षाकालीन सत्र (जुलाई-सितंबर) और शीतकालीन सत्र (नवंबर-दिसंबर)। लेकिन राज्य सभा के बजट-सत्र का विभाजन दो सत्रों में कर दिया जाता है और उनके बीच तीन से चार सप्ताह का अंतराल होता है। अतः उसके वर्ष में चार सत्र हो जाते हैं। बजट-सत्र के दौरान लोक सभा की कार्यवाही में भी 3-4 सप्ताह का अंतराल कर दिया जाता है, ताकि विभागों से संबंधित स्थाई समितियाँ अनुदान-माँगों का परीक्षण कर सकें।

बजट

राष्ट्रपति से अपेक्षा की जाती है कि वह प्रत्येक वित्तीय वर्ष के संबंध में संसद के दोनों सदनों के समक्ष भारत सरकार की उस वर्ष के लिए अनुमानित प्राप्तियों तथा व्यय का विवरण रखवाएगा। इसे 'वार्षिक वित्तीय विवरण' या बजट कहा जाता है।

संसदीय विशेषाधिकार

संविधान का अनुच्छेद 105 संसद के सदनों, उसके सदस्यों तथा उनकी समितियों के अधिकारों, विशेषाधिकारों आदि के बारे में उपबंध करता है। बुनियादी कानून यह है कि संसद सदस्यों समेत सभी नागरिकों को विधि के समक्ष समान समझा जाए। उनके भी अधिकार तथा उन्मुक्तियां साधारण नागरिकों जैसी ही हैं, सिवाय उस स्थिति के जब संसद में वे अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं। सदस्यों को ये विशेषाधिकार केवल तभी और उसी सीमा तक उपलब्ध हैं जब तक वे संसद के जनप्रतिनिधियों के रूप में काम करते हैं और अपने संसदीय दायित्वों का निर्वाह करते हैं। ये विशेषाधिकार किसी भी दशा में उन्हें समाज के प्रति उनके

दायित्वों से मुक्त नहीं करते। इन दायित्वों का भार उन पर दूसरों जैसा ही है और संभवतया उस हैसियत से कुछ अधिक ही।

अधिक महत्वपूर्ण विशेषाधिकारों का उल्लेख संविधान के अनुच्छेद 105 में किया गया है। वे हैं संसद में बोलने की आज़ादी तथा संसद में उनके द्वारा कही गई किसी बात या दिए गए मत के बारे में न्यायिक कार्यवाही से उन्मुक्ति।

दोनों सदनों की तुलनात्मक भूमिका

संसद के दोनों सदनों को सभी क्षेत्रों में समान शक्ति तथा दर्जा प्राप्त है सिवाय वित्तीय मामलों तथा मंत्रिपरिषद के उत्तरदायित्व के बारे में, जो केवल लोक सभा के अधिकार क्षेत्र में आते हैं। तदनुसार, धन विधेयक राज्य सभा में पुरःस्थापित नहीं किया जा सकता, राज्य सभा धन विधेयक को न तो अस्वीकार कर सकती है और न ही उसमें संशोधन कर सकती है। धन विधेयक के बारे में वह केवल सिफ़ारिशें कर सकती है। यदि ऐसा विधेयक 14 दिन की अवधि के भीतर लोक सभा को नहीं लौटाया जाता है तो समझा जाएगा कि उसे उक्त अवधि की समाप्ति के बाद दोनों सदनों ने उस रूप में पारित कर दिया है जिस रूप में उसे लोक सभा ने पारित कर दिया था। कोई विधेयक विशेष धन विधेयक है या नहीं, इसके बारे में निर्णय लोक सभा का अध्यक्ष करेगा। राज्य सभा 'वार्षिक वित्तीय विवरण' पर चर्चा कर सकती है पर वह अनुदान की माँगों पर मतदान नहीं करा सकती और उसके पास मंत्रिपरिषद के प्रति अविश्वास प्रस्ताव पारित करने की शक्ति नहीं है। इतना ही नहीं राज्य सभा में कार्य स्थगन प्रस्ताव को भी प्रस्तुत नहीं किया जा सकता क्योंकि उसमें निंदा का तत्व समाहित माना जाता है।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं निकाला जाना चाहिए कि राज्य सभा कम महत्वपूर्ण है, अथवा उसे लोक सभा की तुलना में दोयम स्थान दिया गया है। राज्य सभा की शक्तियाँ अधिकांशतः लोक सभा की शक्तियों के समान ही हैं। उसे गैर वित्तीय विधेयकों के

बारे में वही शक्तियाँ प्राप्त हैं, जो लोक सभा को हैं। प्रत्येक गैर वित्तीय विधेयक को अधिनियम का रूप लेने से पहले दोनों सदनों के प्रांगण से गुज़रना होता है और दोनों सदनों द्वारा अलग-अलग पारित किया जाना अनिवार्य है। राज्य सभा को राष्ट्रपति पर महाभियोग, उपराष्ट्रपति की बर्खास्तगी, संविधान संशोधनों, और सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के जजों की पदमुक्ति जैसे महत्वपूर्ण मामलों में लोक सभा के समान ही अधिकार प्राप्त हैं। राष्ट्रपति के अध्यादेश, आपात की घोषणा और किसी राज्य विशेष में संवैधानिक तंत्र की असफलता की घोषणा को दोनों सदनों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाना होता है। वित्त विधेयक एवं संविधान संशोधन विधेयक के अतिरिक्त अन्य किसी भी विधेयक पर दोनों सदनों के बीच असहमति की स्थिति में उनकी एक संयुक्त बैठक होती है, जहाँ मामले बहुमत द्वारा तय किए जाते हैं। दोनों सदनों की ऐसी बैठक की अध्यक्षता लोक सभा अध्यक्ष करता है।

संविधान ने राज्य सभा को कुछ विशेष शक्तियाँ प्रदान की हैं। केवल राज्य सभा ही यह घोषणा कर सकती है कि संसद के लिए राष्ट्रहित में यह ज़रूरी है कि वह राज्य सूची में शामिल किसी मामले के संबंध में कानून बनाए। यदि दो तिहाई बहुमत से राज्य सभा इस आशय का कोई संकल्प पारित कर देती है तो संसद समूचे भारत या उसके किसी भाग के लिए विधियाँ बना सकती है (अनुच्छेद 249)। इसके अलावा, यदि राज्य सभा ने उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों में से कम-से-कम दो तिहाई सदस्यों द्वारा समर्थित संकल्प द्वारा यह घोषित कर दिया है कि राष्ट्रीय हित में ऐसा करना आवश्यक है या समीचीन है तो संसद विधि द्वारा संघ और राज्यों के लिए सम्मिलित एक या अधिक अखिल भारतीय सेवाओं के सृजन के लिए उपबंध कर सकती है।

दल-बदल विरोधी कानून

संविधान (52वां संशोधन) अधिनियम, 1985 ने संविधान में एक नई अनुसूची (दसवीं अनुसूची) जोड़ी है। उसमें दल-बदल के

आधार पर अयोग्यता के लिए कुछ उपबंध किए गए हैं। दसवीं अनुसूची के अंतर्गत अपनी पार्टी से दल-बदल करने वाले किसी सदस्य को सदन की सदस्यता के लिए अयोग्य ठहराया जा सकता है, बशर्ते वह दल-बदल पार्टी में विभाजन अथवा दलों के विलय का अंग न हो।

संसद एवं कार्यपालिका

जब नई लोक सभा का विधिवत निर्वाचन तथा गठन हो जाता है तो उसके बाद राष्ट्रपति लोक सभा के अधिकतम सदस्यों का समर्थन प्राप्त करने वाली पार्टी या पार्टियों के गठबंधन नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करता है।

जहाँ प्रधानमंत्री सामान्यतया लोक सभा का सदस्य होता है, वहाँ मंत्री संसद के दोनों सदनों से लिए जाते हैं। संसद-सदस्य से भिन्न किसी व्यक्ति को भी मंत्री नियुक्त किया जा सकता है, लेकिन छह मास के बाद उसे पद छोड़ना होगा, यदि वह इस बीच दोनों में से किसी सदन का सदस्य चुने जाने का प्रबंध नहीं कर लेता। चूँकि मंत्रिपरिषद लोक सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है (अनुच्छेद 75), अतः मंत्रियों का यह संवैधानिक दायित्व होता है कि जैसे ही वे लोक सभा का विश्वास गँवा दें, वैसे ही सामूहिक रूप से इस्तीफ़ा दे दें।

हमारे संविधान की योजना कार्यपालिका तथा विधायिका के सर्वोच्च प्राधिकारों का यथार्थ समन्वय दर्शाती है। कार्यपालिका तथा विधायिका का संबंध अति प्रगाढ़ तथा आदर्श प्रकृति का है। वह किसी वैर-विरोध या द्विभाजन की अनुमति नहीं देता। कार्यपालिका और विधायिका सत्ता की होड़ के केंद्र नहीं माने गए हैं बल्कि वे तो सरकार के कार्य में अभिन्न भागीदार या सहभागी माने गए हैं। स्पष्ट तौर पर कहें तो संसदीय प्रणाली की सरकार का अर्थ ही संसद की सरकार होना चाहिए। लेकिन संसद एक विशाल निकाय है। वह स्वयं न तो शासन करती है और न कर सकती है।

मंत्रिपरिषद को एक प्रकार से संसद की ऐसी विराट कार्यपालिका समिति कहा जा सकता है जिसे मूल निकाय की ओर से प्रशासन का प्रभार सौंपा गया हो या, यूँ कहें कि कार्यपालिका कोई अलग या बाहरी निकाय नहीं है। चूँकि, मंत्रिपरिषद के सदस्य संसद से लिए जाते हैं और वह संसद का अंग होती है और लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होती है, अत: उनके रिश्ते के बारे में कहा जा सकता है कि वह तो वैसा ही रिश्ता है जैसा अंश का पूर्ण से होता है। वह परस्पर निर्भरता का रिश्ता है। लेकिन कार्यपालिका तथा संसद के कृत्यों के बीच स्पष्ट विभेद है (अनुच्छेद 75)। संसद विधान बनाती है, सलाह देती है, आलोचना करती है तथा जनता की शिकायतों को मुखर करती है। भले ही संसद की ओर से हो, कार्यपालिका शासन करती है।

जहाँ कार्यपालिका को इस बारे में लगभग असीम अधिकार हैं कि वह संसद के समक्ष विधायी तथा वित्तीय प्रस्तावों का शुभारंभ तथा प्रारूपण करे और अनुमोदित नीतियों को बिना किसी संसदीय अवरोध तथा विरोध के कार्य रूप दे, वहाँ संसद को भी इस बारे में असीम शक्ति है कि वह सूचना की माँग करे, चर्चा करे, छानबीन करे तथा कार्यपालिका के प्रस्तावों पर लोकानुमोदन का ठप्पा लगाए। कार्यपालिका संसद के प्रति उत्तरदायी होती है और प्रशासन जवाबदेह रहता है। संसद का कार्य है कि कार्यपालिका पर राजनीतिक तथा वित्तीय नियंत्रण रखे और प्रशासन की संसदीय निगरानी करे।

संसद तथा न्यायपालिका

संसद को अधिकार है कि वह न्यायालयों के गठन, संगठन, अधिकारिता तथा शक्तियों के विनियमन के बारे में विधियाँ बना सके। संसद विधि द्वारा किसी संघ-राज्य क्षेत्र पर से उच्च न्यायालय की अधिकारिता का विस्तार या उसका निस्तार कर सकती है; दो या उससे अधिक राज्यों के लिए या दो या अधिक राज्यों तथा किसी संघ-राज्य क्षेत्र के लिए साझे उच्च न्यायालय

की स्थापना कर सकती है; और किसी संघ-राज्य क्षेत्र के लिए उच्च न्यायालय का गठन कर सकती है या ऐसे राज्य क्षेत्र के किसी न्यायालय को संविधान के सभी या किन्हीं प्रयोजनों के लिए उच्च न्यायालय घोषित कर सकती है।

उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय का कोई न्यायाधीश राष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षर युक्त लेख द्वारा अपना पद त्याग सकता है। उसे उसके पद से राष्ट्रपति तभी हटा सकता है जब विशेष बहुमत से (यानी प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत से तथा उस सदन के उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के कम-से-कम दो तिहाई बहुमत से) संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित समावेदन उसके सामने प्रस्तुत किया जाए (अनुच्छेद 124(4) तथा 218)। संसद इस प्रक्रिया का विधि द्वारा नियमन कर सकती है। संसद को अधिकार नहीं है कि वह उच्चतम न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश के कर्तव्यपालन संबंधी उसके आचरण के बारे में चर्चा कर सके सिवाय उस स्थिति के जब किसी न्यायाधीश को हटाए जाने की प्रार्थना करने वाला कोई समावेदन राष्ट्रपति के सम्मुख प्रस्तुत किया जाए (अनुच्छेद 121)।

आम धारणा के विपरीत हमारे संविधान में किसी जज के महाभियोजन का कोई प्रावधान नहीं है। महाभियोजन का प्रावधान केवल राष्ट्रपति के लिए है। संसद विधि द्वारा इस प्रक्रिया का नियमन कर सकती है। इसके अलावा महाभियोजन प्रक्रिया एवं हटाने की प्रक्रिया के बीच मूल अंतर है। इसी तरह महाभियोजन के प्रस्ताव एवं राष्ट्रपति से किसी जज को हटाए जाने का आदेश प्राप्त करने के लिए समावेदन प्रस्तुत करने के उद्देश्य से प्रस्ताव पारित किए जाने के बीच काफी अंतर है। राष्ट्रपति के महाभियोजन प्रस्ताव का संबंध "संविधान की अवहेलना" से होना चाहिए जबकि किसी जज को हटाए जाने के समावेदन का आधार "कदाचार अथवा अक्षमता" होती है। महाभियोग के मामले में जिस क्षण दोनों सदन प्रस्ताव पारित कर देते हैं, उस क्षण से राष्ट्रपति

पदच्युत मान लिया जाता है, लेकिन जज की बर्खास्तगी के प्रस्ताव के मामले में आवश्यक आदेश जारी करना राष्ट्रपति पर निर्भर है।

संसद विधि द्वारा उपबंध कर सकती है कि संघ के लिए प्रशासनिक अधिकरण की और हर राज्य या दो या दो से अधिक राज्यों के लिए अलग से प्रशासनिक अधिकरण की स्थापना की जाए। इस उपबंध के अधीन बनाई गई विधि अधिकरणों की अधिकारिता तथा शक्तियों का विनिर्देश कर सकती है।ऐसी विधि कतिपय विनिर्दिष्ट मामलों के बारे में, अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता के सिवाय, सभी न्यायालयों की अधिकारिता का अपवर्जन कर सकती है (अनुच्छेद 323 क तथा 323 ख)। इसके अलावा, संविधान के अधीन संसद एक अखिल भारतीय न्यायिक सेवा का सृजन कर सकती है। उसमें ज़िला न्यायाधीश से अवर पद का कोई पद नहीं होगा [अनुच्छेद 312(1) तथा (3)]।

संसद की दोनों सभाओं की किसी कार्यवाही की वैधता को किसी न्यायालय के समक्ष प्रक्रिया की किसी कथित अनियमितता के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती [अनुच्छेद 122(1) तथा 212(1)]। प्रत्येक सदन का पीठासीन अधिकारी या कोई अधिकारी या संसद सदस्य जिनमें अस्थायी रूप में प्रक्रिया या कार्य-संचालन को विनियमित करने की तथा संसद के किसी सदन के निर्णय को लागू करने की शक्तियाँ निहित हों, इन शक्तियों के प्रयोग के विषय में किसी न्यायालय की अधिकारिता के अधीन नहीं होगा [अनुच्छेद 122(2) तथा 105(3)]। किसी विधि की संवैधानिक वैधता को भारत में इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि विधान की विषयवस्तु उस विधानमंडल की सक्षमता में नहीं है जिसने उसे पारित किया है, संविधान के प्रावधानों के प्रतिकूल है, अथवा किसी मूल अधिकार का उल्लंघन करती है।

उच्चतम न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध कोई अपील नहीं की जा सकती। वह तब तक देश की सभी अदालतों के लिए मान्य विधि बना रहता है, जब तक कि उसके निर्वचन की पुनरीक्षा या उसमें परिवर्तन स्वयं उच्चतम न्यायालय नहीं कर देता या संसद

विधि या संविधान में समुचित संशोधन नहीं कर देती। यदि संसद के किसी अधिनियम को न्यायपालिका रद्द कर देती है तो संसद उसे रद्द किए जाने के कारणों को दूर करके उसे पुनः अधिनियमित कर सकती है। साथ ही, संसद अपनी संविधायी शक्तियों की सीमाओं के भीतर संविधान में इस प्रकार संशोधन कर सकती है कि विधि संविधान के विरुद्ध न रहे।

अतः भारतीय संसद ब्रिटिश संसद जैसी सर्वोच्च नहीं है। ब्रिटिश संसद विधान की किसी न्यायिक पुनरीक्षा की अनुमति नहीं देती। साथ ही, भारत की न्यायपालिका उतनी सर्वोच्च नहीं है जितनी कि अमरीका की न्यायपालिका है। अमरीकी न्यायपालिका न्यायिक पुनरीक्षा के क्षेत्र पर वस्तुतया कोई सीमा स्वीकार नहीं करती।

न्यायपालिका

पूरे भारत के लिए एकीकृत न्याय प्रणाली है। अधीनस्थ न्यायालयों से लेकर सर्वोच्च न्यायालय तक न्यायालयों का एक अधिक्रम है। शीर्ष पर उच्चतम न्यायालय है। उच्चतम न्यायालय द्वारा स्थापित विधि देश के सभी अन्य न्यायालयों के लिए बाध्यकारी है।

सर्वोच्च न्यायालय

जजों की नियुक्ति : अनुच्छेद 124 का उपबंध है कि भारत का एक उच्चतम न्यायालय होगा। इसमें एक मुख्य न्यायमूर्ति तथा सात अन्य न्यायाधीश होंगे। लेकिन संसद को अधिकार है कि वह विधि द्वारा न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि कर सकती है। 1986 से विधि द्वारा निश्चित संख्या मुख्य न्यायमूर्ति के अलावा 25 कर दी गई थी। अनुच्छेद 124(2) के अनुसार राष्ट्रपति, ''उच्चतम न्यायालय के और राज्यों के उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श करने के बाद, जिनसे वह परामर्श करना उचित समझे," उच्चतम न्यायालयों के सभी न्यायाधीशों की नियुक्ति करेगा। अनुच्छेद के उपबंधों के अनुसार मुख्य न्यायमूर्ति के अलावा

किसी न्यायाधीश की नियुक्ति के मामले में, भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से सदैव परामर्श किया जाएगा। सरकार पर केवल इतना उत्तरदायित्व है कि वह मुख्य न्यायाधीश एवं अन्य जजों से संपर्क करे। उल्लेखनीय है कि संवैधानिक उपबंधों में यह अपेक्षा नहीं की गई कि नियुक्ति 'परामर्श से' की जाएगी, बल्कि यह कहा गया कि नियुक्ति "परामर्श के बाद" की जाएगी। कुछ वर्ष पूर्व तक प्रचलित प्रक्रिया यह थी कि मुख्य न्यायाधीश की राय प्राप्त करने के बाद मंत्रिपरिषद मामले पर विचार करती थी और राष्ट्रपति को इस संबंध में सलाह देती थी कि किन लोगों की नियुक्ति की जाए। राष्ट्रपति सलाह के अनुसार कार्य करता था। मुख्य न्यायाधीश के मामले में, आमतौर पर वरिष्ठतम न्यायाधीश की नियुक्ति की जाती थी। लेकिन 1970 के दशक में कुछ काल के लिए इस परिपाटी की उपेक्षा की गई और कुछ मुख्य न्यायाधीशों की नियुक्ति वरिष्ठताक्रम की अवहेलना करके की गई।

एस. पी. गुप्ता बनाम भारतसंघ (ए आई आर 1982 एस सी 149) के मामले में न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि न्यायाधीशों के चयन के विषय में परामर्श प्रभावी होना चाहिए और गुण-दोषों पर विचार करने के बाद परस्पर विचारों का आदान-प्रदान होना चाहिए लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि परस्पर सहमति होनी ही चाहिए। लेकिन इस मामले में व्यक्त विचार को सन् 1993 में बदल दिया गया। *सुप्रीम कोर्ट्स एडवोकेट्स ऑन रिकार्ड एसोसिएशन बनाम भारतीय संघ* (ए. आई. आर. 1994 एस सी 268) के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने जजों की नियुक्ति का अधिकार वस्तुतः अपने हाथों में ले लिया। एहतियात के तौर पर इस मामले में निर्देश दिया गया कि मुख्य न्यायाधीश चयन प्रक्रिया में अपने दो वरिष्ठतम सहयोगियों को भी शामिल करेगा। इस निर्णय के प्रकाश में जजों की नियुक्ति के मामले में भारत के मुख्य न्यायाधीश का मत निर्णायक होगा और मुख्य न्यायाधीश का पद रिक्त होने की स्थिति में, वरिष्ठतम न्यायाधीश को भारत का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया जाएगा, बशर्ते कि सेवा निवृत्त होने वाले मुख्य न्यायाधीश ने उसके अयोग्य

ठहराने के आशय की रिपोर्ट न प्रेषित की हो। वैसे, मुख्य न्यायाधीश द्वारा उच्चतम न्यायालय के जजों की नियुक्ति के बारे में की गई कतिपय संस्तुतियों के बारे में सरकार द्वारा अपना निर्णय सुरक्षित रख लिए जाने से मामला अत्यधिक विवादास्पद हो गया। सरकार ने मसले पर परामर्श लेने के लिए उसे संविधान के अनुच्छेद 143 के अंतर्गत उच्चतम न्यायालय को संदर्भित कर दिया। न्यायालय ने अपनी सलाहकारी राय (1998 की विशेष संदर्भ संख्या 1) 28 अक्टूबर, 1998 [(1998) 7एन एस सी सी 739] में मूलत: अपनी पूर्व स्थिति की ही पुष्टि की, लेकिन उसने सतर्कता बरतने के लिए कुछ और प्रावधान किए। मुख्य न्यायाधीश को उच्चतम न्यायालय के चार वरिष्ठतम जजों से परामर्श करना होगा, और यदि किसी नाम पर चार में से दो जजों ने असहमति व्यक्ति की तो नियुक्ति के लिए उसकी संस्तुति नहीं की जा सकेगी। अब प्रचलित रीति यह है कि निर्णय यथासम्भव सर्वसम्मति से लिए जाने चाहिए और किसी नाम की संस्तुति के लिए मुख्य न्यायाधीश एवं अन्य चार में से कम से कम तीन जजों को सहमत होना चाहिए।

पदावधि : उच्चतम न्यायालय का हर जज 65 वर्ष की आयु तक अपने पद पर बना रहेगा। वह राष्ट्रपति को पत्र लिख कर अपने पद को त्याग सकता है। किसी जज को संसद के दोनों सदनों में उसकी बर्खास्तगी के लिए पारित प्रस्ताव के बाद जारी राष्ट्रपति के आदेश के माध्यम से ही हटाया जा सकता है।

उच्चतम न्यायालय का अधिकार क्षेत्र : अनुच्छेद 129 में कहा गया है कि उच्चतम न्यायालय अभिलेख न्यायालय होगा और उसे ऐसे न्यायालय की सभी शक्तियां प्राप्त होंगी। यह न्यायालय देश का सर्वोच्च न्यायालय है। अत: उसकी कार्यवाहियों, कार्यों तथा निर्णयों के अभिलेख रखे जाते हैं ताकि कानून क्या है, इसके समर्थन में ज़रूरत पड़ने पर उन्हें साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सके और उनका अक्षय स्मृति भंडार बना रहे। अभिलेख

न्यायालय होने का अर्थ यह है कि उसके अभिलेखों को साक्ष्य के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है और किसी न्यायालय में उनकी प्रामाणिकता को चुनौती नहीं दी जा सकती।

अभिलेख न्यायालय का यह अर्थ भी है कि वह अपनी मानहानि के लिए दंड दे सकता है। लेकिन इस संक्षिप्त शक्ति का उपयोग कभी-कबार अत्यावश्यक परिस्थितियों में ही किया जाता है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि न्यायालय तथा उसके कार्य की खरी तथा सदाशयपूर्ण आलोचना पर कोई पाबंदी है। लोकहित में न्यायिक कार्य की उचित तथा युक्तियुक्त आलोचना से किसी की मानहानि नहीं होती।

उच्चतम न्यायालय को आरंभिक अथवा मूल, अपीलीय तथा मंत्रणा देने की अधिकारिता होती है। मूल अधिकारिता का अर्थ है प्रथमतया किसी विवाद को सुनने तथा उस पर निर्णय देने की शक्ति। उच्चतम न्यायालय को अनन्य मूल अधिकारिता दी गई है। वह ऐसे विवादों पर लागू होती है यथा, (क) जो भारत सरकार तथा एक या उससे अधिक राज्यों के बीच हों; (ख) जहां एक ओर भारत सरकार तथा एक या उससे अधिक राज्य हों और दूसरी ओर एक या उससे अधिक राज्य हों; (ग) जो दो या उससे अधिक राज्यों के बीच हों।

उच्चतम न्यायालय की मूल अधिकारिता व्यक्तियों के मूल अधिकारों के उल्लंघन संबंधी मामलों पर भी लागू होती है और न्यायालय इन अधिकारों के प्रवर्तन के लिए अनेक आदेश (रिट) जारी कर सकता है। हमारे संविधान का यह विशेष लक्षण है कि कोई व्यक्ति अपने मूल अधिकारों के उल्लंघन के मामले में सीधे ही सर्वोच्च न्यायालय के द्वार खटखटा सकता है।

उच्चतम न्यायालय की अपीलीय अधिकारिता दीवानी, फौजदारी तथा संवैधानिक मामलों पर लागू होती है। दीवानी मामले में उच्च न्यायालय के किसी निर्णय, डिक्री अथवा अंतिम आदेश की अपील उच्चतम न्यायालय में हो सकती है, यदि उच्च न्यायालय अनुच्छेद 134 क के अधीन प्रमाणित कर देता है कि इस मामले में संविधान के निर्वचन के बारे में सार्वजनिक महत्व

का कोई सारवान प्रश्न अंतर्ग्रस्त है और उस प्रश्न का विनिश्चय उच्चतम न्यायालय द्वारा आवश्यक है।

फौजदारी मामलों में अपील उच्चतम न्यायालय में हो सकेगी, यदि उच्च न्यायालय ने (क) किसी अभियुक्त की दोषमुक्ति के आदेश को उलट दिया है और उसको मृत्युदंड का आदेश दे दिया है, या (ख) अपने अधिकार के अधीन किसी न्यायालय से किसी मामले को विचारण के लिए अपने पास मंगा लिया है और ऐसे विचारण में अभियुक्त को सिद्धदोष ठहराया है और उसे मृत्युदंड का आदेश दे दिया है।

न्यायालय के किसी निर्णय के विरुद्ध अपील की जा सकेगी, बशर्ते उच्च न्यायालय ने प्रमाणित कर दिया हो कि यह मामला सर्वोच्च न्यायालय में अपील के लिए उपयुक्त है। उच्चतम न्यायालय अपने विवेकानुसार भारत के राज्य क्षेत्र के किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण द्वारा किसी वाद या मामले में पारित किए गए या दिए गए किसी निर्णय, डिक्री, अवधारण, दंडादेश या आदेश की अपील के लिए विशेष इजाज़त दे सकेगा। अनुच्छेद 134 के अधीन उच्चतम न्यायालय में अपील के लिए प्रमाणपत्र देने की जो शक्ति उच्च न्यायालय को प्राप्त है, उससे कहीं अधिक व्यापक उच्चतम न्यायालय की ये शक्तियाँ अपील की विशेष इजाज़त देने के बारे में है। सैनिक न्यायालयों के अलावा राज्य क्षेत्र के किसी भी न्यायालय या न्यायाधिकरण के निर्णयों के खिलाफ या दीवानी, फौजदारी या राजस्व संबंधी किसी भी प्रकार के मामलों में अपील की विशेष इजाज़त उच्चतम न्यायालय दे सकता है। लेकिन उच्चतम न्यायालय ने स्वयं कहा है कि वह केवल उन्हीं मामलों की अपील की विशेष इजाज़त देगा जिनमें घोर अन्याय हुआ है अथवा जहाँ उच्च न्यायालय या न्यायाधिकरण ने कोई त्रुटि की हो। यदि अधीनस्थ न्यायालय का निर्णय विवेक को झकझोरता है और न्यायिक चेतना को आघात पहुँचाता है तो उच्चतम न्यायालय उस मामले में हस्तक्षेप कर सकता है।

संविधान का अनुच्छेद 143 उच्चतम न्यायालय को परामर्श की अधिकारिता प्रदान करता है। सार्वजनिक महत्व की विधि या

तथ्य के किसी ऐसे प्रश्न पर उच्चतम न्यायालय की राय राष्ट्रपति माँग सकता है जिसके बारे में उसका विचार हो कि ऐसी राय प्राप्त करना समीचीन है। राष्ट्रपति से प्राप्त ऐसे निर्देश के बाद उच्चतम न्यायालय, ऐसी सुनवाई के बाद जो वह ठीक समझे, राष्ट्रपति को उस पर अपनी राय के बारे में रिपोर्ट देगा। राय केवल सलाह के रूप में होती है। राष्ट्रपति को छूट है कि वह उसे माने या न माने।

उच्चतम न्यायालय के निर्देशों तथा निर्णयों को प्रभावी बनाने के प्रयोजनों के लिए भारत के राज्य क्षेत्र के सभी सिविल तथा न्यायिक प्राधिकारियों को उच्चतम न्यायालय के प्राधिकार के अधीन कर दिया गया है, क्योंकि इन सभी से अपेक्षा की जाती है कि वे उच्चतम न्यायालय की सहायता करें। संविधान देश की मूल विधि है अत: हर विधायी अधिनियम को, चाहे वह संघ का हो या राज्यों का, इस मूल विधि के अनुरूप होना ही चाहिए। भारत में केवल अपवाद यह है कि जब विधि को असंवैधानिक घोषित कर दिया जाए तो उसके बाद अधिकांश मामलों में संविधान में संशोधन किया जा सकता है ताकि न्यायिक निर्वचन की रक्षा की जा सके और विधि को अनुज्ञेय बनाया जा सके।

संविधान में मूल अधिकारों संबंधी अध्याय का समावेश न्यायिक पुनर्विलोकन को विशेष संगतता प्रदान करता है। अनुच्छेद 12 मूल अधिकारों के बारे में यह गारंटी देता है कि राज्य की किसी भी प्रकार की कार्यवाही उसका अपहरण नहीं करेगी। इस अनुच्छेद के अधीन 'राज्य' की परिभाषा इस प्रकार की गई है कि उसमें भारत की सरकार, संसद तथा राज्यों में से प्रत्येक राज्य की सरकार और विधानमंडल तथा भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर या भारत सरकार के नियंत्रण के अधीन सभी स्थानीय और अन्य प्राधिकारी आ जाते हैं।

मूल अधिकारों संबंधी अध्याय के अनुच्छेद 32 में उच्चतम न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति विशेष रूप से प्रदान की गई है। इस अनुच्छेद के अधीन हर नागरिक को अधिकार है कि वह अध्याय 3 में दिए गए अधिकारों का प्रवर्तन कराने के लिए

समुचित कार्रवाई द्वारा उच्चतम न्यायालय का द्वार खटखटा सके। उच्चतम न्यायालय अपनी आरंभिक अधिकारिता में याचिका की सुनवाई कर सकता है। उच्चतम न्यायालय को यह शक्ति दी गई है कि वह प्रदत्त अधिकारों में से किसी को प्रवर्तित कराने के लिए, ऐसे निर्देश या आदेश या रिट जिनके अंतर्गत बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार-पृच्छा और उत्प्रेषण रिट हैं, जो भी समुचित हो, जारी कर सके।

विधि द्वारा स्थापित क्रिया : अमरीकी संविधान के अनुसार केवल विधि की सम्यक प्रक्रिया के अनुसार ही किसी व्यक्ति को स्वातंत्र्य आदि के उसके अधिकार से वंचित किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। लेकिन भारतीय संविधान का प्रावधान है कि केवल विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही किसी व्यक्ति को स्वातंत्र्य आदि के उसके अधिकार से वंचित किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

सम्यक प्रक्रिया अमरीकी उच्चतम न्यायालय को इस बारे में भारी गुंजाइश प्रदान करती है कि वह अपने नागरिकों के अधिकारों की रक्षा कर सके। वह इन अधिकारों का उल्लंघन करने वाले कानूनों को न केवल गैर कानूनी होने के सारभूत आधारों पर बल्कि अनुचित होने के प्रक्रियात्मक आधारों पर भी शून्य घोषित कर सकती है। लेकिन किसी विधि की संवैधानिकता का निश्चय करते समय हमारे उच्चतम न्यायालय को केवल इस मूल प्रश्न पर विचार करना होता है कि कानून संबद्ध प्राधिकार की शक्तियों के भीतर है या नहीं। उससे यह आशा नहीं की जाती कि वह उसकी युक्तियुक्तता, अनुकूलता अथवा नीति संबंधी जटिलताओं पर विचार करे।

उच्चतम न्यायालय विनिर्दिष्ट याचिका द्वारा विनिर्दिष्ट मामले में अपना निर्णय देता है। वह सामान्य निर्देश पर राय या सलाह नहीं देता। कोई व्यथित व्यक्ति होना चाहिए जो अपने अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले कानून की संवैधानिकता को चुनौती देने के लिए याचिका दायर करे। उसे दिखाना पड़ेगा कि कानून

को लागू किए जाने के कारण उसे कोई सीधी क्षति पहुँची है या तत्काल पहुँचने का खतरा है और जिस क्षति के बारे में शिकायत की गई है, वह वाद-योग्य है।

लोकहित संबंधी मुकदमे : न्यायाधीशों के स्थानांतरण के मामले में अपने ऐतिहासिक निर्णय में उच्चतम न्यायालय की सात न्यायाधीशों वाली संविधान पीठ ने निर्णय दिया कि जनता का कोई भी व्यक्ति, भले ही उसका वाद से सीधा संबंध न हो पर उसमें उसकी 'पर्याप्त रुचि' हो, अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय में गुहार कर सकता है अथवा मूल अधिकारों के उल्लंघन के मामले में उन व्यक्तियों की शिकायतों को दूर कराने के लिए जो 'गरीबी, लाचारी या असमर्थता या सामाजिक एवं आर्थिक विपन्नता' के कारण न्यायालय का द्वार नहीं खटखटा सकते, उच्चतम न्यायालय में फरियाद कर सकता है। ऐसे मामले में एक पत्र के द्वारा भी न्यायालय के द्वार तक पहुँचा जा सकता है। इस निर्णय से लोकसेवी व्यक्ति/नागरिक को या समाजसेवी संगठनों को छूट मिल गई है कि वे आम जनता के हित में न्यायिक राहत की माँग कर सकें।

हाल के वर्षों में न्यायिक सक्रियता का दौर रहा है। उच्चतम न्यायालय ने इस दौरान प्रदूषण नियंत्रण, बाल वेश्यावृत्ति को रोकने, दस हज़ार कर्मचारियों की रोज़ी-रोटी बचाने के लिए एक बीमार कंपनी को पुनर्जीवित करने, किसी बाँध को बनाते समय उसके निर्माण के कारण उत्पन्न होने वाले संभावित खतरों पर निगाह रखने, माचिस-फैक्ट्री के कर्मचारियों को बीमा सुविधा देने, वेश्याओं से उनके बच्चों को पृथक करने, पर्यावरणीय प्रदूषण से ताजमहल को बचाने आदि के बारे में कई निर्देश जारी किए हैं। लेकिन न्यायालय ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि गैर वाद-योग्य मामलों को जनहित याचिका का छद्म रूप देकर न्यायालय के समक्ष नहीं लाया जा सकता। यदि व्यक्तिगत हित वाली याचिका को जनहित याचिका के रूप में प्रस्तुत करके मुकदमा लड़ा जाता है, तो ऐसा वाद कायम करने वाले व्यक्ति से वाद की कार्यवाही

पर होने वाला ख़र्च वसूला जा सकता है। अदालत किसी बेईमान व्यक्ति को जनहित याचिका की आड़ में अपना व्यक्तिगत वैमनस्य साधने का अवसर नहीं दे सकती।

न्यायालय की स्वाधीनता : व्यक्तियों के अधिकारों को कार्यपालिका एवं विधायिका के हस्तक्षेप से बचाने में न्याय प्रशासन का विशेष महत्व होता है। संविधान ने यह संरक्षण न्यायपालिका को सरकार के अन्य दो अंगों से स्वाधीन एवं अपने क्षेत्र में सर्वोच्च बना कर दिया है। संघात्मक राज्य व्यवस्था में स्वाधीन तथा सर्वोच्च न्यायपालिका एक अनिवार्य अपेक्षा है क्योंकि संघात्मक सरकार तथा उसके संघटक एककों की सरकारों के बीच शक्तियों का कार्यात्मक विभाजन होता है। मानव अधिकारों को सुनिश्चित करने तथा लोकतंत्र की सुरक्षा करने के लिए भी स्वाधीन तथा निष्पक्ष न्यायपालिका एक अनिवार्य अपेक्षा है। केवल एक स्वाधीन न्यायपालिका ही व्यक्ति तथा संविधान के अधिकारों के अभिभावक के रूप में प्रभावशाली ढंग से कार्य कर सकती है। न्यायालयों की स्वाधीनता को सुनिश्चित करने के लिए भारत के संविधान में अनेक युक्तियाँ हैं जैसे, न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा उन्हें हटाए जाने के बारे में, कार्यकाल की सुरक्षा के बारे में, न्यायाधीशों के वेतन तथा सेवा की शर्तों और उनके वेतन तथा भर्ती को संचित निधि पर प्रभारित करने के बारे में, उच्चतम न्यायालय द्वारा अपने निजी कर्मचारियों की भर्ती तथा नियुक्ति के बारे में, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों पर सेवानिवृत्ति के बाद भारत के किसी भी न्यायालय में प्रैक्टिस करने पर प्रतिबंध लगाने तथा मानहानि के लिए दंडित करने आदि के बारे में संवैधानिक उपबंध।

उच्च न्यायालय

संविधान में कहा गया है कि हर राज्य के लिए एक उच्च न्यायालय होगा। लेकिन, संसद विधि द्वारा दो या अधिक राज्यों के लिए या दो या अधिक राज्यों और किसी संघ राज्य क्षेत्र के लिए साझे उच्च न्यायालय की स्थापना कर सकती है। उच्चतम

न्यायालय की भाँति प्रत्येक उच्च न्यायालय भी अभिलेख और आरंभिक तथा अपीली अधिकारिता वाला न्यायालय होगा और उसको अपने अवमान के लिए दंड देने की शक्ति सहित ऐसे न्यायालय की सभी शक्तियाँ प्राप्त होंगी।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति, भारत के मुख्य न्यायाधीश, राज्य के राज्यपाल और संबंधित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश (स्वयं मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति को छोड़कर) से परामर्श करके करता है। *एस. पी. गुप्ता बनाम भारत संघ* (ए आई आर 1982, एस सी आर 149) में यह निर्णय दिया गया था कि इस परामर्श की प्रक्रिया में तीनों कृत्यकारियों को समान महत्व देना होगा। लेकिन उसके बाद *एडवोकेट्स ऑन रिकार्ड एसोसिशन* के मामले में उच्चतम न्यायालय के निर्णय और उसके बाद राष्ट्रपति को दी गई उसकी सलाहकारी राय से स्थिति बदल गई है (उच्चतम न्यायालय शीर्षक वाला अंश देखें)।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए अनिवार्य है कि कोई व्यक्ति भारत का नागरिक हो, कम-से-कम दस वर्ष तक न्यायिक पद धारण कर चुका हो या दस वर्ष तक उच्च न्यायालय का अधिवक्ता रहा हो। नियुक्त हो जाने पर हर उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के लिए पद की शपथ लेना अनिवार्य है। उच्च न्यायालय का प्रत्येक न्यायाधीश तब तक पद धारण करेगा जब तक वह बासठ वर्ष की आयु प्राप्त नहीं कर लेता है। उसे अपने पद से केवल उसी रीति से हटाया जा सकता है जिसकी व्यवस्था उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के लिए की गई है। इसके अलावा, उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद की स्वाधीनता को सुनिश्चित करने के लिए व्यवस्था की गई है कि कोई व्यक्ति, उच्च न्यायालय के स्थाई न्यायाधीश पद को धारण करने के बाद उच्चतम न्यायालय और अन्य उच्च न्यायालयों के सिवाय भारत के किसी न्यायालय में वकालत नहीं करेगा। उच्च न्यायालय का हर न्यायाधीश ऐसे वेतन तथा भत्तों का हकदार होगा जिन्हें संसद विधि द्वारा निर्धारित करे अथवा जिनका विनिर्देश संविधान की दूसरी अनुसूची में हो।

राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के बाद न्यायाधीशों को एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय को स्थानांतरित कर सकता है। लेकिन उच्चतम न्यायालय का निर्णय है कि उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को उसकी सहमति के बिना स्थानांतरित नहीं किया जा सकता। लेकिन इस संबंध में कोई आपत्ति केवल प्रभावित जज ही कर सकता है।

प्रत्येक उच्च न्यायालय मुख्य न्यायमूर्ति और ऐसे अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा जिन्हें राष्ट्रपति समय-समय पर नियुक्त करना आवश्यक समझे (अनुच्छेद 216)। प्रत्येक उच्च न्यायालय अपनी अधिकारिता वाले क्षेत्र में, सशस्त्र बलों से संबंधित किसी विधि के अधीन गठित न्यायालयों तथा अधिकरणों को छोड़कर, अन्य सभी न्यायालयों तथा अधिकरणों का अधीक्षण करेगा।

अनुच्छेद 226 के अनुसार प्रत्येक उच्च न्यायालय अपनी अधिकारिता वाले समूचे राज्य क्षेत्र में मूल अधिकारों को लागू कराने के लिए या किसी अन्य प्रयोजन के लिए किसी व्यक्ति या प्राधिकारी को ऐसे निर्देश, आदेश या रिट जैसे, बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार-पृच्छा और उत्प्रेषण रिट या उनमें से किसी को जारी कर सकेगा। अतः जहाँ उच्चतम न्यायालय की रिट अधिकारिता का विस्तार केवल मूल अधिकारों के उल्लंघन के मामलों पर है, वहाँ उच्च न्यायालयों को अनुच्छेद 226 के अधीन कहीं अधिक व्यापक शक्तियाँ प्राप्त हैं और वे किसी भी अधिकार के उल्लंघन के मामलों में रिट जारी कर सकते हैं। "किसी अन्य प्रयोजन के लिए" पद इस बात को स्पष्ट कर देता है। उच्च न्यायालय किसी अवैध आदेश को रद्द कर सकता है, किसी कानून या अधिकार की घोषणा कर सकता है और अवैध कर आदि की वापसी के रूप में राहत का आदेश दे सकता है। जिस प्रकार उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधि भारत के सभी न्यायालयों के लिए वेदवाक्य है, ठीक उसी प्रकार उच्च न्यायालय द्वारा घोषित विधि राज्य के भीतर या उच्च न्यायालय की अधिकारिता में आने वाले राज्य क्षेत्र के भीतर के सभी अधीनस्थ न्यायालयों के लिए वेदवाक्य है।

रिट जारी करने की शक्ति उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों में निहित की गई है। इसका उद्देश्य उन व्यक्तियों के लिए त्वरित न्याय तथा त्वरित राहत सुनिश्चित कराना है जिनके अधिकारों का उल्लंघन बिना किसी दंडभय के किया गया है और यदि परिहार्य तकनीकी बातों की उपेक्षा करके तत्काल फलदायी तथा त्वरित उपचार उपलब्ध नहीं कराया जाता तो उन्हें अपूरणीय क्षति होगी। पाँच प्रकार की जानी-मानी रिटें हैं :

बंदी प्रत्यक्षीकरण का अर्थ है व्यक्ति को सशरीर उपस्थित करने की माँग। यह उस मामले में लागू होती है जहाँ किसी व्यक्ति के बारे में कहा जाता है कि उसे अवैध रूप से निरुद्ध किया गया है। रिट को जारी करने का अर्थ है कि निरुद्ध कराने वाले प्राधिकारी या व्यक्ति को आदेश दिया जाता है कि वह निरुद्ध व्यक्ति को सशरीर न्यायालय के सामने प्रस्तुत करे और निरोध का कारण बताए ताकि न्यायालय उसकी वैधता या अवैधता का निर्धारण कर सके। यदि निरोध को अवैध पाया जाता है तो निरुद्ध व्यक्ति को तत्क्षण आज़ाद कर दिया जाता है। चूँकि अब 44वें संशोधन के बाद अनुच्छेद 21 का आपात की घोषणा के काल में भी निलंबन नहीं किया जा सकता, अतः व्यक्ति के व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की सुरक्षा के लिए यह एक अति महत्वपूर्ण रिट हो गई है।

जहाँ उच्चतम न्यायालय बंदी प्रत्यक्षीकरण की रिट को केवल मूल अधिकारों के उल्लंघन की दशा में राज्य के विरुद्ध जारी कर सकता है, वहाँ उच्च न्यायालय उसे उन व्यक्तियों के ख़िलाफ़ भी जारी कर सकता है जो अवैध या मनमाने ढंग से किसी अन्य व्यक्ति को निरुद्ध करते हैं।

परमादेश वैध रूप से कार्य करने का आदेश है। इसके अधीन अवैध कार्य को रोका जाता है। जहाँ 'क' को ऐसा कानूनी अधिकार है जो 'ख' पर कतिपय कानूनी दायित्व डालता है, वहाँ 'क' इस आशय के परमादेश की माँग कर सकता है कि 'ख' को उसका कानूनी कर्तव्य-पालन करने का निर्देश दिया जाए। परमादेश की माँग ऐसे किसी भी प्राधिकारी, अधिकारी, सरकार या

न्यायिक निकायों के भी विरुद्ध की जा सकती है जो लोक कर्तव्यों या कानूनी दायित्वों के पालन में चूक या इन्कार करते हैं। किसी व्यक्ति के मूल अधिकार को प्रवर्तित करने के लिए उच्चतम न्यायालय 'परमादेश' जारी कर सकता है, यदि कहा जाता है कि किसी सरकारी आदेश या कार्य से उसका उल्लंघन हुआ है। इस रिट को जारी करके उच्च न्यायालय किसी अधिकारी को उसके संवैधानिक तथा कानूनी अधिकारों के प्रयोग के बारे में निर्देश दे सकते हैं। वह किसी व्यक्ति को विवश कर सकते हैं कि वह संविधान या कानून द्वारा उसे सौंपे गए कर्तव्यों का पालन करे, वह किसी न्यायिक प्राधिकारी को उसकी अधिकारिता के प्रयोग के लिए विवश कर सकता है और वह सरकार को किसी संविधान-विरुद्ध कानून को लागू न करने का आदेश दे सकता है।

प्रतिषेध कोई उच्चतर न्यायालय किसी अवर न्यायालय या न्यायाधिकरण को जारी करता है और उसका उद्देश्य होता है कि उसे उसकी अधिकारिता का उल्लंघन करने से मना किया जाए। 'प्रतिषेध' की रिट प्रशासनिक एजेंसियों के ख़िलाफ़ जारी नहीं की जाती। वह केवल न्यायिक और अर्द्ध-न्यायिक निकायों के विरुद्ध जारी की जाती है।

अधिकार-पृच्छा की रिट प्रश्न करती है--किस प्राधिकरण या अधिकार से? रिट में माँग की जा सकती है कि लोक पद को धारण करने से किसी व्यक्ति के दावे के बारे में लोक हित में कानूनी स्थिति को स्पष्ट किया जाए। ऐसी रिट की माँग करने का आवेदन कोई भी व्यक्ति कर सकता है, बशर्ते प्रश्नगत पद संविधान या विधि द्वारा सर्जित स्थायी स्वरूप का अधिष्ठायी लोक पद हो और व्यक्ति की नियुक्ति बिना किसी कानूनी प्राधिकार के तथा संविधान या कानूनों का उल्लंघन करके की गई हो।

उत्प्रेषण रिट भी न्यायिक और अर्द्ध-न्यायिक प्राधिकारियों, न्यायालयों एवं न्यायाधिकरणों के ख़िलाफ़ जारी की जाती है और उसका अर्थ है 'सूचनार्थ प्रेषण'। यथा, जब कोई न्यायाधिकरण बिना अधिकारिता के या उसका उल्लंघन करके कार्य करता है और कोई अवैध आदेश जारी करता है तो 'उत्प्रेषण' की रिट द्वारा

उसे रद्द किया जा सकता है। इस तरह की रिट व्यक्तिगत अधिकारों को प्रभावित करने वाली किसी प्रशासनिक एजेंसी के विरुद्ध भी जारी की जा सकती है। रिटों के अलावा, उच्च न्यायालय अनुच्छेद 226 के अधीन लोगों को न्याय के हित में अन्य निर्देश तथा आदेश जारी कर सकते हैं।

अधीनस्थ न्यायालय : अनुच्छेद 236 व्याख्यात्मक अनुच्छेद है और ज़िला जज, न्यायिक सेवा आदि जैसे शब्दों की व्याख्या करता है। अनुच्छेद 237 राज्यपाल को अधीनस्थ न्यायालयों से संबंधित प्रावधानों को राज्य के किसी श्रेणी अथवा किन्हीं श्रेणियों के मजिस्ट्रेटों के बारे में लागू करने का अधिकार देता है। ज़िला न्यायाधीशों की नियुक्ति उच्च न्यायालय के परामर्श से राज्यपाल करता है। वह व्यक्ति जो सरकारी सेवा में पहले से ही नहीं है, उसके पास ज़िला न्यायाधीश के पद का पात्र होने के लिए 'बार' का कम-से-कम सात वर्ष का अनुभव चाहिए (अनुच्छेद 233)।

20वें संशोधन अधिनियम द्वारा जोड़ा गया अनुच्छेद 233क कतिपय ज़िला न्यायाधीशों की नियुक्ति को तथा उनके द्वारा दिए गए निर्णयों आदि को वैध ठहराता है (अनुच्छेद 233 क)।

किसी राज्य की न्यायिक सेवा में ज़िला न्यायाधीशों से इतर व्यक्तियों की नियुक्ति इस निमित्त बनाए गए नियमों के अनुसार राज्यपाल ही करेगा। ऐसी नियुक्तियों के मामले में राज्य लोक सेवा आयोग के अलावा उच्च न्यायालय से भी सलाह लेनी होगी (अनुच्छेद 234)।

ज़िला न्यायालयों तथा उनके अधीनस्थ अन्य न्यायालयों पर उच्च न्यायालय का पूर्ण प्रशासनिक नियंत्रण होगा। यहाँ तक कि राज्य की न्यायिक सेवा के किसी व्यक्ति और ज़िला न्यायाधीश के पद से अवर किसी पद को धारण करने वाले व्यक्ति की तैनाती, पदोन्नति और उसकी छुट्टी की व्यवस्था भी वही करेगा।

8

भारत के राज्य

राज्यों की कार्यपालिका और विधानपालिका

सीधे-सादे ढंग से कहें तो राज्यों के लिए किए गए उपबंध केंद्रीय ढाँचे की अनुकृति हैं। राज्यों के स्तर पर भी एक संवैधानिक अध्यक्ष वाली संसदीय प्रणाली की सरकार तथा जनप्रातिनिधिक विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी मंत्रिपरिषद होती है। कार्यपालिका की वास्तविक शक्ति का प्रयोग मंत्रिपरिषद करती है। राज्यपाल के "समाधान" (या संतुष्टि) का अर्थ मंत्रिपरिषद का "समाधान" होता है। जम्मू-कश्मीर राज्य वैसे तो भारत का अभिन्न अंग है पर वह एकमात्र राज्य है जिसका अपना अलग राज्य-संविधान है। लेकिन अन्य अनेक राज्यों को भी विशेष दर्जा प्राप्त है और उनके संबंध में कतिपय विशेष उपबंध हैं और वे केवल उनमें से प्रत्येक पर अलग-अलग लागू होते हैं यथा, महाराष्ट्र तथा गुजरात के राज्य (अनुच्छेद 371), नागालैंड (371 क), असम (371 ख), मणिपुर (371 ग), आंध्र प्रदेश (371 घ तथा 371 ड), सिक्किम (371 च), मिज़ोरम (371 छ), अरुणाचल प्रदेश (371 ज) तथा गोवा (371 झ)।

राज्य-कार्यपालिका

राज्यपाल : हर राज्य के लिए एक राज्यपाल होगा। एक ही

व्यक्ति को कभी-कभी दो या दो से अधिक राज्यों का राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है। राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। राज्यपाल के लिए विहित पदावधि पाँच वर्ष की है लेकिन वह राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत पद धारण करता है। किसी व्यक्ति को राज्यपाल के रूप में तभी नियुक्त किया जा सकता है जब वह भारत का नागरिक हो और 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो। इसके अलावा राज्यपाल संसद या किसी राज्य विधानमंडल का सदस्य नहीं हो सकता। राज्यपाल लाभ का कोई अन्य पद धारण नहीं कर सकता। हर राज्यपाल बिना किराया दिए सरकारी आवास का तथा ऐसी अन्य उपलब्धियों आदि का हकदार होगा, जिनका निर्धारण संसद द्वारा विधि के ज़रिये अथवा संविधान की दूसरी अनुसूची के अधीन किया जाए। राज्यपाल तथा राज्यपाल के कृत्यों का निर्वाह करने वाला हर व्यक्ति यह शपथ लेगा कि वह श्रद्धापूर्वक पद का कार्यपालन करेगा और संविधान एवं विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करेगा (अनुच्छेद 159)।

राज्य की कार्यपालिका-शक्ति राज्यपाल में निहित होती है और इसका प्रयोग वह संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करता है। संविधान के अनुसार राज्यपाल कतिपय मामलों में कुछ अपवादों को छोड़कर, अपने सभी कृत्यों का निर्वाह मंत्रिपरिषद की सहायता तथा सलाह से करेगा। लेकिन राज्यपाल के मामले में 'सहायता और सलाह' से काम करने की बात केवल उन विषयों पर लागू होती है जहाँ राज्यपाल से यह अपेक्षा न की जाती हो कि वह "अपने विवेकानुसार कार्य करेगा" (अनुच्छेद 163)। 42वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 74 में संशोधन करके यह उपबंध कर दिया गया है कि राष्ट्रपति सलाह के अनुसार कार्य करेगा ही। लेकिन राज्यपालों पर लागू तदनुरूप अनुच्छेद 163 में ऐसा कोई संशोधन नहीं किया गया है। पर यह निर्णय दिया गया है कि सामान्यतया राज्यपाल 'अपने मंत्रियों की सलाह के अनुसार ही कार्य कर सकता है, अन्यथा नहीं।' कतिपय ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ राज्यपाल को अपनी बुद्धि तथा विवेक का इस्तेमाल करना पड़ सकता है यथा, (क) जहाँ किसी एक पार्टी

या नेता को बहुमत का समर्थन प्राप्त न हो, उस स्थिति में नए मुख्यमंत्री की नियुक्ति; (ख) उस स्थिति में मंत्रिमंडल की बर्खास्तगी जहाँ सदन में बहुमत का समर्थन गँवा देने पर भी या अविश्वास-प्रस्ताव पर हार जाने पर भी वह मंत्रिमंडल इस्तीफ़ा देने से इन्कार कर दे; (ग) बहुमत का समर्थन गँवाने वाले मुख्यमंत्री की सलाह पर विधान सभा का विघटन; (घ) छठी अनुसूची के अधीन असम के जनजातीय क्षेत्रों की ज़िला परिषदों के लिए खनिज लाइसेंसों की रॉयल्टी का निर्धारण; (ङ) राष्ट्रपति को इस बारे में सलाह कि संवैधानिक तंत्र विफल हो गया है और राष्ट्रपति का शासन लागू कर दिया जाए; तथा (च) विधेयकों पर अनुमति। कुछ राज्यपालों को अनुच्छेद 371 से 371 (झ) के अधीन कतिपय विशेष दायित्वों का निर्वाह भी करना पड़ सकता है।

जिन राज्यों में विधान परिषदें हैं, वहाँ राज्यपाल राज्य की विधान परिषद के लिए सदस्यों के छठवें भाग को नामज़द कर सकता है। ये सदस्य उन लोगों में से होंगे जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आंदोलन एवं समाज-सेवा का विशेष ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव होगा। वह विधान सभा के लिए आंग्ल-भारतीय समुदाय के एक व्यक्ति को भी नामज़द कर सकता है, यदि उसकी राय में वहाँ समुदाय का प्रतिनिधित्व ज़रूरी हो और विधान सभा में उसे पर्याप्त प्रतिनिधित्व न मिला हो। राज्यपाल राज्य विधानमंडल का अंग है। जहाँ दो सदनों वाले विधानमंडल हैं, वहाँ वह विधानमंडल के दोनों सदनों की बैठकें बुलाता है और उनका सत्रावसान करता है। वह राज्य विधान सभा का विघटन कर सकता है। वह विधानमंडल के सदस्यों को संबोधित करता है और संदेश भेज सकता है। राज्यपाल की अनुमति के बिना कोई भी विधेयक कानून नहीं बन सकता, भले ही उसे दोनों सदन पारित कर दें।

राज्यपाल उस अवधि के दौरान अध्यादेश जारी कर सकता है जब विधान सभा अथवा दोनों सदनों का (जहाँ विधानमंडल के दोनों सदन हों) सत्र न चल रहा हो। यह शक्ति वैसी ही है जैसी कि राष्ट्रपति को अनुच्छेद 123 के अधीन प्राप्त है। अध्यादेशों का

वैसा ही बल तथा प्रभाव होता है जैसा कि विधानमंडल द्वारा पारित तथा राज्यपाल द्वारा अनुमति-प्राप्त विधियों का होता है। इसके अलावा, उन पर भी विधानमण्डल द्वारा पारित विधियों जैसे प्रतिबंध होते हैं।

राज्यपाल द्वारा जारी किए गए हर अध्यादेश को राज्य विधान सभा के समक्ष (दो सदनों वाले राज्य विधानमंडल की दशा में दोनों सदनों के समक्ष) रखना होगा तथा वह विधानमंडल के पुन: समवेत होने से छह सप्ताह की समाप्ति पर या उससे पूर्व भी लागू नहीं रहेगा यदि उसके निरनुमोदन का संकल्प पारित कर दिया जाता है। अध्यादेश को राज्यपाल किसी भी समय वापस ले सकता है (अनुच्छेद 213)। राज्यपाल की अध्यादेश जारी करने की शक्तियों के कुख्यात दुरुपयोग को *डी. सी. वधवा बनाम बिहार राज्य* (1987) 1 एस सी सी 378 में उजागर किया गया था। 1967-1981 के दौरान बिहार के राज्यपाल ने 256 अध्यादेश जारी किए थे। इन सभी को पुन:-पुन: जारी करके बनाए रखा गया। न्यायालय का निर्णय था कि यह कार्य 'लोकतांत्रिक प्रक्रिया का उन्मूलन' था और 'संविधान के प्रति धोखाधड़ी' था। इस शक्ति का उपयोग तो असाधारण परिस्थितियों का सामना करने के लिए यदा-कदा ही किया जाना चाहिए। राजनीतिक स्वार्थ-पूर्ति के लिए उसके दुरुपयोग की अनुमति नहीं दी जा सकती।

राज्यपाल से अपेक्षा की जाती है कि वह विधानमंडल के सदन अथवा सदनों के समक्ष बजट या वार्षिक वित्तीय विवरण रखवाए। राज्यपाल की सिफारिश के बिना न तो धन विधेयक का पुर:स्थापन किया जा सकता है और न ही अनुदान की माँग को प्रस्तुत किया जा सकता है। संशोधनों के लिए भी राज्यपाल की सिफारिश चाहिए।

राज्यपाल को क्षमा आदि प्रदान करने की शक्ति दी गई है। वह उस विषय के संबंध में, जिस विषय पर उस राज्य की कार्यपालिका-शक्ति का विस्तार है, किसी विधि के विरुद्ध किसी अपराध के लिए सिद्धदोष ठहराए गए किसी व्यक्ति के दंडादेश का निलंबन, परिहार या लघुकरण कर सकता है। *के. एम. नानावती*

बनाम बंबई राज्य (ए आई आर 1961 एस सी 99) में उच्चतम न्यायालय का निर्णय था कि राज्यपाल को छूट है कि वह किसी भी समय, यहाँ तक कि उस समय भी जब मामला उच्चतम न्यायालय में लंबित हो, पूर्ण क्षमा प्रदान कर सकता है लेकिन जब मामला उच्चतम न्यायालय के विचाराधीन हो, उस अवधि के लिए राज्यपाल दंडादेश के निलंबन की अपनी शक्ति का ऐसा प्रयोग नहीं कर सकता। यह कहा गया कि राज्यपाल की निलंबन की शक्ति उच्चतम न्यायालय द्वारा बनाए गए नियमों के अधीन होगी।

राज्य विधानमंडल

किसी राज्य का विधानमंडल राज्यपाल तथा विधान सभा से मिलकर बनेगा, सिवाय उन कुछ राज्यों के जहाँ विधान सभा और विधान परिषद के रूप में दो सदन हैं। फिलहाल केवल बिहार, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, तमिलनाडु और कर्नाटक में विधान परिषदें हैं। इस प्रश्न का निर्णय हर राज्य की विधान सभा पर छोड़ दिया गया है कि वह चाहे तो संसद से सिफ़ारिश करे कि जहाँ विधान परिषद है, वहाँ उसका उत्सादन कर दिया जाए और जहाँ विधान परिषद नहीं है, वहाँ उसकी स्थापना कर दी जाए।

किसी राज्य की विधान सभा में पाँच सौ से अधिक तथा साठ से कम सदस्य नहीं होंगे। उन्हें प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुना जाएगा। विधान परिषद की सदस्य संख्या उस राज्य की विधान सभा के सदस्यों की कुल संख्या के एक तिहाई से अधिक नहीं होगी, लेकिन किसी भी दशा में चालीस से कम नहीं होगी। उसके एक तिहाई सदस्यों का निर्वाचन नगरपालिकाएँ, ज़िला बोर्ड तथा अन्य स्थानीय प्राधिकारी संसद द्वारा विधि के ज़रिये विनिर्दिष्ट रूप में करेंगे। उसके बारहवें भाग का निर्वाचन स्नातक-निर्वाचन क्षेत्र करेगा। उसके एक तिहाई भाग का निर्वाचन विधान सभा के सदस्य करेंगे और शेष यानी छठे भाग का नामनिर्देशन राज्यपाल करेगा। परिषद के निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा होंगे।

विधान सभा की अवधि पाँच वर्ष होगी। विधान परिषद सतत सदन होगा। उसका विघटन नहीं होगा, लेकिन उसके एक तिहाई सदस्य हर दो वर्ष के बाद निवृत्त हो जाएँगे।

विधानमंडल की सदस्यता का पात्र होने के लिए अनिवार्य है कि कोई व्यक्ति भारत का नागरिक हो, वह संविधान के प्रति शपथ ले, नामांकन की तिथि को विधान सभा के लिए कम-से-कम 25 वर्ष की आयु का हो और विधान परिषद के लिए कम-से-कम 30 वर्ष की आयु का हो। राज्य सूची की मदों पर विधान बनाने के बारे में राज्य विधानमंडल की अनन्य अधिकारिता है और तीसरी अनुसूची की मदों के बारे में उसकी समवर्ती अधिकारिता है।

राज्य में विधान परिषद की स्थिति संघ स्तर पर राज्य सभा जैसी ही है। अन्य बातों के अलावा, यही स्थिति विधानमंडलों की उन्मुक्तियों एवं उनके विशेषाधिकारों, सदस्यों की अनर्हता, दोनों सदनों के आपसी संबंधों, विधायी प्रक्रिया, धन विधेयकों के उद्‌गम आदि के बारे में है। विधान सभा का एक अध्यक्ष तथा एक उपाध्यक्ष होता है। उनका निर्वाचन विधान सभा करती है और उनका पद तथा उनके कृत्य लोक सभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष जैसे ही होते हैं। लेकिन विधान परिषद का भी एक सभापति तथा उपसभापति होता है और उनका निर्वाचन परिषद करती है।

संघ-राज्य क्षेत्र

संघ-राज्य क्षेत्रों की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि वे ऐसे क्षेत्र होते हैं जिनका सीधा प्रशासन संघ के हाथ में होता है। संप्रति सात संघ राज्य क्षेत्र हैं अर्थात दिल्ली, अंदमान और निकोबार द्वीप, लक्षद्वीप, दादरा और नागर हवेली, दमन और दीव, पांडिचेरी तथा चंडीगढ़ (प्रथम अनुसूची)। हाल तक जो महानगर परिषद तथा कार्यकारी पार्षदों वाला दिल्ली संघ-राज्य क्षेत्र कहलाता था, अब वह विधानमंडल तथा मंत्रिपरिषद वाला राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र बन गया है।

संसद विधि द्वारा संघ-राज्य क्षेत्रों के प्रशासन की व्यवस्था कर सकती है। उसके अधीन संघ-राज्य क्षेत्रों का प्रशासन

राष्ट्रपति अपने द्वारा नियुक्त प्रशासक के माध्यम से करेगा। प्रशासक को सामान्यतया उपराज्यपाल कहा जाता है। राष्ट्रपति किसी पड़ोसी राज्य के राज्यपाल को भी किसी संघ-राज्य क्षेत्र का प्रशासक नियुक्त कर सकता है। इस प्रकार नियुक्त राज्यपाल प्रशासक के कृत्यों का निर्वाह राज्य की मंत्रिपरिषद की सलाह के बिना स्वतंत्र रूप से करेगा (अनुच्छेद 239)। संसद विधि द्वारा किसी संघ-राज्य क्षेत्र के लिए विधानमंडल तथा मंत्रिपरिषद का सृजन कर सकती है। ऐसा विधानमंडल तथा मंत्रिपरिषद पांडिचेरी संघ-राज्य क्षेत्र एवं दिल्ली के राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के लिए बन चुका है। लेकिन कानून व्यवस्था, पुलिस और भूमि के संबंध में सभी विधायी और कार्यकारी शक्तियाँ तथा इन तीनों क्षेत्रों से संबंधित सभी मामले केंद्र ने अपने अधीन रखे हैं और इनका निष्पादन एवं निस्तारण उपराज्यपाल के माध्यम से किया जाता है। अंदमान और निकोबार द्वीपों के संघ-राज्य क्षेत्र के लिए विधानमंडल के स्थान पर एक नामनिर्देशित निकाय है। सिवाय उन संघ-राज्य क्षेत्रों के जहाँ विधानमंडल कार्य कर रहा हो, अन्य सभी ऐसे राज्य क्षेत्रों की शांति, प्रगति तथा सुशासन के लिए राष्ट्रपति को विनियम बनाने की शक्ति प्राप्त है। संसद विधि द्वारा किसी संघ-राज्य क्षेत्र के लिए उच्च न्यायालय का गठन कर सकेगी या उसके प्रयोजनों के लिए किसी न्यायालय को उच्च न्यायालय घोषित कर सकेगी।

9

संघ और राज्यों के बीच संबंध

भारत के संविधान का ढाँचा परिसंघीय है। इसमें संघ तथा राज्यों के बीच कार्यपालक एवं विधायी शक्तियों के वितरण की व्यवस्था है। संघ और राज्यों की सांविधानिक शक्तियों और संघ तथा राज्य के संबंधों को प्रभावित करने वाले प्रावधानों में राज्यों के अनुसमर्थन के बिना संशोधन नहीं किए जा सकते। संघ और राज्यों के बीच विवादों का निपटारा करने के लिए उच्चतम न्यायालय है। किंतु दूसरी ओर संविधान की व्यवस्था में अनेक एकात्मक तत्व भी हैं। कुछ लोगों का कहना है कि यह शरीर से परिसंघात्मक और आत्मा से एकात्मक है। इसे अर्द्ध-परिसंघीय भी कहा गया है क्योंकि शक्तियों का वितरण करने के बाद अवशिष्ट शक्तियों का वास संघ में रखा गया है।

संविधान सभा ने जान-बूझकर, सोच-समझकर निर्णय लिया था कि भारत को एक संघ कहा जाए, भले ही उसके संविधान का स्वरूप परिसंघात्मक हो। भारत के संघ होने पर ज़ोर देने के पीछे आशय यह था कि यह संघटक इकाइयों के बीच किसी संविदा या समझौते की उपज नहीं है बल्कि उस संविधान सभा की घोषणा है जिसने अपना प्राधिकार भारत के लोगों से प्राप्त किया है। इसके अलावा, संकल्पना का स्पष्ट उद्देश्य था कि राज्य व्यवस्था के संघात्मक स्वरूप को दर्शाया जाए। चाहे संविधान निर्माता हों या राज्यों के पुनर्गठन एवं संघ तथा राज्यों के आपसी संबंधों पर विचार के लिए आज़ादी के बाद नियुक्त विभिन्न आयोग तथा

समितियाँ हों यथा जे. वी. पी. समिति, दर आयोग, राज्य पुनर्गठन आयोग, राजमन्नार समिति, सरकारिया आयोग आदि, सभी की सर्वोपरि चिंता का विषय भारत की एकता तथा अखंडता रहा है। राज्य पुनर्गठन समिति की रिपोर्ट का निष्कर्ष था :

> "भारत का संघ ही हमारी राष्ट्रिकता का आधार है--राज्य तो केवल संघ के अंग हैं और जहाँ हम यह मानते हैं कि अंगों को स्वस्थ एवं सशक्त होना ही चाहिए... वहाँ संघ की सशक्तता एवं स्थिरता तथा विकास एवं संवर्धन की उसकी क्षमता ही वह तत्व है जिसे देश के सभी परिवर्तनों का नियामक आधार माना जाए।"

संघ-राज्य संबंधों के क्षेत्र में इस बात पर विशेष बल दिया जाना चाहिए कि 'संघ-राज्य' के स्थान पर 'केंद्र-राज्य' शब्द के गलत प्रयोग के कारण भारी नुकसान हुआ है और व्यापक गलतफहमी फैली है। संविधान में 'केंद्र' शब्द का इस्तेमाल नहीं किया गया। वास्तविकता यह है कि 'केंद्रीय सरकार', 'केंद्रीय विधानमंडल', 'केंद्रीय विधियाँ' आदि शब्द औपनिवेशिक शासन के केंद्रप्रधान शासनकाल की अशुभ थाती के रूप में चले आ रहे हैं। 'केंद्र' तथा 'संघ' शब्द नितांत भिन्न छवियाँ प्रस्तुत करते हैं और अति भिन्न संकल्पनाओं को दर्शाते हैं। 'केंद्र' किसी परिधि के मध्य का बिंदु हैं और 'संघ' पूर्ण परिधि है। संघ तथा राज्यों का आपसी संबंध वैसा ही है जैसा कि समग्र देह का अपने अंगों से होता है, न कि प्राधिकार के केंद्र और उसके बाहरी परिसर के बीच जैसा। *(अध्याय 4 और 13 भी देखें।)*

विधायी संबंध

संसद भारत के समूचे राज्य क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए विधियाँ बना सकती है। किसी राज्य का विधानमंडल समूचे राज्य या उसके किसी भाग के लिए विधियाँ बना सकता है। अनुच्छेद 245-255 में संघ तथा राज्यों के बीच विधायी शक्तियों के वितरण का घोषणा-पत्र है। राज्य की कोई विधि शून्य हो जाएगी, यदि उसका राज्य क्षेत्रातीत प्रवर्तन होता है। लेकिन संसद द्वारा बनाए गए कानूनों के बारे में राज्य क्षेत्रातीत प्रवर्तन के आधार पर

आपत्ति नहीं की जा सकती (अनुच्छेद 245)। संविधान की सातवीं अनुसूची में तीन सूचियाँ हैं अर्थात संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची जिनमें क्रमशः 97, 66 तथा 47 मदें हैं। समवर्ती सूची में शामिल मदों के बारे में संघ तथा राज्यों के विधानमंडल, दोनों ही विधान बना सकते हैं। यदि समवर्ती सूची की मदों के बारे में संसद तथा राज्यों के विधानमंडलों द्वारा बनाई गई विधियों के बीच कोई असंगति हो तो संघ की विधियाँ प्रभावी होंगी और राज्य की विधि उस विसंगति की मात्रा तक शून्य होगी, सिवाय उस स्थिति के जहाँ राज्य की विधि राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित रखी गई हो और उस पर उसकी अनुमति मिल गई हो (अनुच्छेद 245)। संसद को यह शक्ति दी गई है कि वह किसी अंतर्राष्ट्रीय संधि, क़रार, अभिसमय अथवा विनिश्चय को कार्यरूप देने के लिए समूचे देश या उसके किसी भाग के लिए कोई विधि बना सके (अनुच्छेद 253)।

संघ सूची में ऐसे विषय शामिल हैं जिनका संबंध संघ के सामान्य हित से है और जिनके बारे में समूचे संघ के भीतर विधान की एकरूपता अनिवार्य है। राज्य सूची में ऐसे विषय शामिल हैं जो हित तथा व्यवहार की विविधता की छूट देते हैं। समवर्ती सूची में ऐसे विषय शामिल हैं जिनके बारे में समूचे संघ के भीतर विधान की एकरूपता वांछनीय तो है, पर अनिवार्य नहीं है। पुनः अनुच्छेद 250 के अधीन, जब आपात की घोषणा लागू हो तो संसद को अधिकार दिया गया है कि वह समूचे भारत या उसके किसी भाग के वास्ते राज्य सूची में शामिल किसी मद के लिए विधियाँ बना सकती है। ऐसी विधियों की वैधता की अधिकतम अवधि आपात की समाप्ति के बाद छह मास की होगी। यदि अनुच्छेद 249 तथा 250 के अधीन संसद द्वारा बनाई गई विधियों तथा राज्यों के विधानमंडलों द्वारा बनाई गई विधियों के बीच कोई असंगति हो तो संसद द्वारा बनाई गई विधि अभिभावी होगी और राज्य की विधि विरोध की मात्रा तक अप्रवर्तनीय होगी और संसद द्वारा बनाई गई विधि प्रभावी रहेगी (अनुच्छेद 251)।

अनुच्छेद 252 के अनुसार दो या दो से अधिक राज्यों के

विधानमंडल एक संकल्प पारित करके संसद से अनुरोध कर सकते हैं कि वह राज्य सूची के किसी विषय के बारे में विधियाँ बनाए। ऐसी विधियों का विस्तार अन्य राज्यों पर किया जा सकता हैं बशर्ते कि संबद्ध राज्यों के विधानमंडल उस आशय के संकल्प पारित करें।

प्रशासनिक संबंध

अनुच्छेद 256 से 265 तक संघ तथा राज्यों के बीच प्रशासनिक संबंधों के विनियमन की व्यवस्था करते हैं। संघात्मक प्रणालियों में सामान्यतया ऐसा होता है कि संघ तथा राज्यों के आपसी प्रशासनिक संबंध झमेलों से ग्रस्त रहते हैं। भारत के संविधान का उद्देश्य है कि दोनों स्तरों के बीच संबंधों का निर्वाह सहज रूप से होता रहे। वह उपबंध करता है कि राज्य सरकार की कार्यपालिका-शक्ति का प्रयोग इस प्रकार हो कि संसद द्वारा बनाई गई विधियों का पालन सुनिश्चित हो सके। संघ की कार्यपालिका को राज्यों को ऐसे निर्देश देने का भी अधिकार प्राप्त है जो भारत सरकार को इस प्रयोजन के लिए आवश्यक प्रतीत हों।

इसी प्रकार, अनुच्छेद 257 का उपबंध है कि हर राज्य की कार्यपालिका-शक्ति का प्रयोग इस प्रकार किया जाए कि वह संघ की कार्यपालिका-शक्ति के प्रयोग में बाधक न हो। संघ इस संबंध में तथा रेलों के संरक्षण एवं राष्ट्रीय या सैनिक महत्व के संचार-साधनों को बनाए रखने के बारे में आवश्यक निर्देश जारी कर सकता है। केंद्रीय निर्देशों के पालन में जो अतिरिक्त व्यय राज्य करेगा, केंद्र उसकी भरपाई राज्य को करेगा। अनुच्छेद 261 का उपबंध निर्देश देता है कि भारतीय राज्य क्षेत्र के सभी भागों में संघ तथा राज्यों के सार्वजनिक कार्यों, अभिलेखों तथा न्यायिक कार्यवाहियों को पूरा विश्वास एवं पूरी मान्यता दी जाएगी। यह बात संघ एवं राज्यों के आपसी संबंधों के सुचारु निर्वाह में अति सहायक होती है। अंतर्राज्यिक नदियों पर संसदीय नियंत्रण तथा अंतर्राज्यिक जल-विवादों के न्याय-निर्णयन संबंधी उपबंधों के द्वारा संघ तथा राज्यों के बीच तथा स्वयं राज्यों के बीच संघर्ष की ढेर

सारी समस्याएं सुलझाने का प्रयास किया गया है (अनुच्छेद 262)। वास्तविकता तो यह है कि संविधान-निर्माता किसी बात की संभावना नहीं छोड़ना चाहते थे। अतः उन्होंने अंतर्राज्यिक परिषदों की व्यवस्था की। अनुच्छेद 263 राष्ट्रपति को अंतर्राज्यिक परिषद की स्थापना का अधिकार प्रदान करता है। इन परिषदों का उद्देश्य है कि वे राज्यों के आपसी विवादों तथा राज्यों के या संघ एवं राज्यों के सामान्य हित के आपसी मामलों के बारे में जाँच करें और उन्हें सलाह दें और नीति एवं कार्यवाही के बेहतर समन्वय के बारे में सिफ़ारिशें करें।

अनुच्छेद 258 के अधीन राष्ट्रपति किसी राज्य सरकार की सहमति से उस सरकार को या उसके अधिकारियों को ऐसे किसी विषय से संबंधित कृत्य सौंप सकेगा जिन पर संघ की कार्यपालिका-शक्ति का विस्तार है। इसी प्रकार, अनुच्छेद 258 क के अधीन किसी राज्य का राज्यपाल भारत सरकार की सहमति से उस सरकार को या उसके अधिकारियों को ऐसे किसी विषय से संबंधित कृत्य सौंप सकेगा जिन पर उस राज्य की कार्यपालिका-शक्ति का विस्तार है। *(अनुच्छेद 356 तथा राज्यों में राष्ट्रपतीय शासन की उद्घोषणा के लिए अध्याय 10 देखिए।)*

वित्तीय संबंध

संघ तथा राज्यों के बीच वित्तीय संबंधों के बारे में भी हम केंद्रीय प्रधानता वाले भारतीय संघवाद की सामान्य प्रवृत्ति के दर्शन कर सकते हैं। यह कहा जा सकता है कि वित्तीय दृष्टि से संघ अधिक सशक्त है। सुनियोजित अर्थव्यवस्था के माध्यम से देश की उन्नति की ज़रूरतों के स्वरूप को देखते हुए यह स्थिति न केवल वांछनीय बल्कि नितांत आवश्यक हो सकती है। लेकिन राज्यों के अपने संसाधन हैं। सहायता-अनुदानों, कतिपय करों के अंश-आगमों आदि के रूप में राज्यों के लिए संघ सारवान राशियों की व्यवस्था करता है। संविधान का उपबंध है कि हर पाँचवें वर्ष की समाप्ति पर वित्त आयोग का गठन किया जाए और वह संघ तथा राज्यों के बीच कर-आगमों के वितरण की जाँच करे एवं सहायता-

अनुदान का नियमन करने वाले सिद्धांतों का निर्धारण करे। यह भारतीय संविधान की एक नई देन है। इसने संघ तथा राज्यों के बीच सामान्यतया सुचारु संबंधों को और भी सहज बनाया है।

10

आपात की उद्घोषणा

राष्ट्रीय आपात, राष्ट्रपति का शासन तथा वित्तीय आपात

कभी-कभी ऐसी असाधारण परिस्थितियाँ पैदा हो जाती हैं जब संविधान की सामान्य योजना नहीं चल सकती और संविधान के कतिपय भागों या उपबंधों के प्रवर्तन का निलंबन ज़रूरी हो जाता है ताकि राष्ट्र की स्वाधीनता एवं सुरक्षा तथा संविधान एवं लोकतंत्र-प्रणाली का संरक्षण किया जा सके।

डा. अंबेडकर ने कहा था कि भारतीय संघ अनोखा है क्योंकि किसी अन्य संघ के विपरीत, आपातकाल में वह अपना रूपांतर पूर्णतया एकात्मक राज्य के रूप में कर सकता है। इस दृष्टिकोण को उच्चतम न्यायालय ने *ग़ुलाम सरवर बनाम भारत संघ* (ए आई आर 1967 एस सी 1335) में उचित ठहराया। संविधान के आपात उपबंधों में दो प्रकार की आपात स्थितियों की परिकल्पना की गई है अर्थात (1) युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह के कारण अनुच्छेद 352 के अधीन राष्ट्रीय आपात और (2) अनुच्छेद 360 के अधीन वित्तीय आपात। तीसरे प्रकार की स्थिति वह स्थिति है जो अनुच्छेद 356 के अधीन किसी राज्य विशेष में संवैधानिक तंत्र के विफल हो जाने से पैदा होती है और वहाँ राष्ट्रपति का शासन आवश्यक हो जाता है।

राष्ट्रीय आपात की उद्घोषणा

अनुच्छेद 352 उपबंध करता है कि यदि मंत्रिमंडल के निर्णय की लिखित संसूचना प्राप्त होने के बाद राष्ट्रपति का समाधान हो जाता है कि ऐसा गंभीर आपात विद्यमान है जिससे युद्ध या बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह से भारत अथवा उसके किसी भाग की सुरक्षा संकट में है तो वह समूचे भारत या उसके किसी भाग के बारे में आपात की उद्घोषणा कर सकेगा। वह विभिन्न आधारों पर विभिन्न उद्घोषणाएँ जारी कर सकता है। यह अपेक्षा की जाती है कि आपात की हर उद्घोषणा को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखा जाएगा और राष्ट्रपति द्वारा उसे जारी किए जाने की तिथि से एक मास की समाप्ति पर वह प्रवर्तन में नहीं रहेगी, यदि इस बीच दोनों सदनों के संकल्पों द्वारा उसका अनुमोदन न कर दिया गया हो।

आपात के प्रवर्तन के दौरान संसद को यह विधायी शक्ति भी मिल जाती है कि वह उन मामलों के बारे में जिनका अन्यथा समावेश संघ सूची में नहीं है, संघ के प्राधिकारियों को विधि द्वारा शक्तियाँ प्रदान करे और उन्हें कर्तव्य सौंपे। अनुच्छेद 359 राष्ट्रपति को प्राधिकार देता है कि वह संविधान के भाग 3 के प्रत्याभूत सभी मूल अधिकारों के प्रवर्तन को आदेश द्वारा निलंबित कर दे, पर अनुच्छेद 20 और 21 के अधीन अपराधों की दोषसिद्धि के संरक्षण तथा जीवन एवं स्वातंत्र्य के संरक्षण से संबंधित अधिकार इसके अपवाद होंगे।

भारत में राष्ट्रीय आपात की अब तक तीन उद्घोषणाएं की गई हैं। एक अक्तूबर 1962 में चीनी आक्रमण के समय की गई, दूसरी, दिसंबर 1971 में पाकिस्तान युद्ध के समय की गई और तीसरी, जून 1975 में आंतरिक अव्यवस्था के आधार पर की गई। आपात की अवधियों के दौरान अनेक विधियों के अधीन संघ सरकार ने असाधारण शक्तियाँ ग्रहण कर लीं और संसद ने संविधान-संशोधन पारित किए।

राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा

संघ का यह संवैधानिक कर्तव्य है कि वह बाह्य आक्रमण तथा

आंतरिक व्यवस्था से अपने राज्यों की रक्षा करे और सुनिश्चित करे कि हर राज्य की सरकार संविधान के अनुसार चलाई जाए (अनुच्छेद 355)। यदि किसी राज्यपाल से रिपोर्ट मिलने पर या अन्यथा राष्ट्रपति का समाधान हो जाता है कि उस राज्य का शासन संविधान के अनुसार नहीं चलाया जा सकता या संवैधानिक तंत्र विफल हो गया है तो वह उद्घोषणा जारी करके राज्य सरकार के कोई भी कृत्य तथा शक्तियाँ अपने हाथ में ले सकता है। उनमें राज्यपाल तथा राज्य के अन्य प्राधिकारियों की शक्तियाँ भी शामिल होंगी (अनुच्छेद 356)।

यह महत्वपूर्ण है कि संविधान के अनुच्छेद 356 को अन्य अनुच्छेदों 355, 256, 257, 353 और 365 के साथ मिलाकर पढ़ा-समझा जाए। प्रायः ऐसा नहीं किया जाता। ऐसी स्थिति में जब किसी राज्य की सरकार संविधान के उपबंधों के अनुसार न चलाई जा सकती हो, अनुच्छेद 355 भी संघ के स्पष्ट दायित्व का उल्लेख करता है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि किसी राज्य में संवैधानिक व्यवस्था की असफलता के समाधान के लिए केवल एक अनुच्छेद 356 ही है। संघ अनुच्छेद 355 के अंतर्गत भी अपने दायित्व के निर्वाह के लिए आवश्यक कार्यवाही कर सकता है अर्थात अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राज्य की सरकार को बर्ख़ास्त किए बिना और राष्ट्रपति शासन लागू किए बिना भी बहुत कुछ किया जा सकता है। अनुच्छेद 355 किसी प्रकार भी 356 पर आश्रित नहीं है।

इसमें संदेह नहीं कि अनुच्छेद 356 राष्ट्रपति को (अर्थात संघ सरकार को) किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की शक्ति देता है किंतु प्रश्न उठता है कि राष्ट्रपति को ऐसा गंभीर कदम कब और किस स्थिति में पहुँचने पर उठाना चाहिए और कब वह मान सकता है कि ऐसी स्थिति आ गई है जब किसी राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता। संविधान के भीतर ही इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर उपलब्ध है, उस पर गौर नहीं किया जाता।

अनुच्छेद 256, 257 और 353 के अंतर्गत संघ सरकार

राज्य सरकार को कुछ निर्देश दे सकती है। अनुच्छेद 365 कहता है कि जहाँ कोई राज्य संघ द्वारा दिए गए निर्देशों का अनुपालन करने में या उनको प्रभावी करने में असफल रहता है, वहाँ राष्ट्रपति के लिए यह मानना विधिपूर्ण होगा कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता। अर्थात संविधान के अनुसार यह ऐसी स्थिति है जिसमें राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

निश्चय ही, राष्ट्रपति के समाधान का अर्थ है संघ सरकार का समाधान और राष्ट्रपति का शासन वस्तुतया संघ सरकार का शासन है। निश्चय ही, दो मास की समाप्ति पर हर उद्घोषणा समाप्त हो जाएगी, यदि उसका अनुमोदन दोनों सदनों के संकल्पों द्वारा न कर दिया जाए। संसद के अनुमोदन के बाद भी कोई उद्घोषणा एक बार में 6 मास से अधिक समय तक और कुल मिलाकर तीन वर्ष से अधिक समय तक जारी नहीं रह सकती।

अनुच्छेद 356, जिसके अधीन संघ, राज्यों पर राष्ट्रपति का शासन लागू कर सकता है, संविधान का सर्वाधिक आलोचित एवं विवादग्रस्त उपबंध रहा है। इस उपबंध के अधीन विगत 50 वर्षों में संघ ने राज्यों का शासन कोई 100 बार अपने हाथ में लिया है। विरोध पक्ष के सदस्यों तथा आलोचकों ने कहा है कि संघ-स्तर पर सत्तारूढ़ दल ने बहुधा इस अनुच्छेद का प्रयोग राजनीतिक तथा दलगत प्रयोजनों के लिए किया है और सामान्यतया विरोध पक्ष के दलों की राज्य सरकारों को बर्खास्त किया है। संविधान सभा में इस प्रावधान के आलोचकों का उत्तर देते समय डा. अंबेडकर ने आशा व्यक्त की थी कि हो सकता है कि कभी उसका प्रयोग ही न किया जाए, सिवाय अंतिम चारे के रूप में जब हर अन्य उपाय विफल हो जाए। *राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ* (ए आई आर 1977 एस सी 1361) में उच्चतम न्यायालय का निर्णय था कि अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा का आधार है राष्ट्रपति का आत्मपरक समाधान और न्यायालय न तो राष्ट्रपति के समाधान के स्थान पर अपना

समाधान रख सकता है और न ही वह अनुच्छेद 74 (2) को दृष्टि में रखते हुए मंत्रिपरिषद द्वारा राष्ट्रपति को दी गई सलाह के बारे में जाँच-पड़ताल कर सकता है। लेकिन न्यायालय ने एक महत्वपूर्ण बात कही कि यदि राष्ट्रपति का समाधान दुर्भावनापूर्ण हो, विषयेतर या असंगत आधारों पर टिका हो या समाधान का नितांत अभाव हो तो वह हस्तक्षेप कर सकता है। इस प्रकार, अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति की शक्ति के प्रयोग को उस हद तक न्यायिक पुनरीक्षा के अधीन लाया गया।

उच्चतम न्यायालय ने *एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ* (1994 एस सी सी) के निर्णय में 11 मार्च, 1994 को कहा कि राष्ट्रपति शासन केवल ऐसी स्थिति में लागू किया जाना चाहिए जब और कोई इलाज़ न बचे, हालत असाध्य हो जाए और राज्य का शासन संविधान के अनुसार चल सकना असंभव हो जाए। न्यायालय ने स्पष्टतया निर्णय दिया है कि राष्ट्रपति शासन लागू करने के राष्ट्रपतीय निर्णय की न्यायिक पुनरीक्षा की जा सकती है और यह देखा जा सकता है कि निर्णय सचमुच किसी सामग्री पर आधारित था, और क्या यह सामग्री मामले से संबद्ध थी। एक और महत्वपूर्ण बात यह कही गई कि राज्य की विधान सभा का विघटन तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि राष्ट्रपतीय उद्घोषणा का संसद के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदन न कर दिया जाए। न्यायालय के अनुसार, यदि विधान सभा भंग कर दी गई हो और सरकार भी बर्खास्त कर दी गई हो और बाद में राष्ट्रपतीय उद्घोषणा को अवैध घोषित किया जाए तो न्यायालय विधान सभा को पुनर्जीवित कर सकता है तथा बर्खास्त की हुई सरकार को बहाल कर सकता है। ऐसा करते समय न्यायालय कह सकता है कि उद्घोषणा के लागू रहते जो निर्णय लिए जा चुके हों या जो काम किए जा चुके हों, वे सब वैध और प्रभावी रहेंगे। निर्णय में आगे कहा गया है कि मंत्रिपरिषद को सदन के बहुमत का समर्थन प्राप्त है या नहीं, इसका निर्णय सदन में ही किया जा सकता है। यह मामला किसी के भी -- भले ही वह राज्यपाल हो या राष्ट्रपति -- व्यक्तिगत अथवा निजी मत का नहीं है।

न्यायालय ने हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश और राजस्थान की भारतीय जनता पार्टी की सरकारों की बर्खास्तगी को वैध ठहराया क्योंकि पंथनिरपेक्षता संविधान के मूलभूत ढाँचे का अंग है और इन सरकारों के इस सिद्धांत में विश्वास पर गहरा संदेह उत्पन्न हो गया था।

वित्तीय आपात

संविधान के अनुच्छेद 360 में राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया है कि वह उद्घोषणा द्वारा वित्तीय आपात की घोषणा कर सकता है, यदि उसका समाधान हो जाए कि भारत या उसके राज्य क्षेत्र के किसी भाग का वित्तीय स्थायित्व या साख संकट में है। बाद की उद्घोषणा द्वारा इस उद्घोषणा को वापस लिया जा सकता है या उसमें परिवर्तन किया जा सकता है। इसे संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखना होगा। वह दो मास की समाप्ति पर प्रवर्तन में नहीं रहेगी, यदि इस बीच दोनों सदनों के संकल्पों द्वारा उसका अनुमोदन न कर दिया जाए। एक बार यदि संसद उसका अनुमोदन कर दे तो अनुच्छेद 352 के अधीन की गई उद्घोषणाओं के विपरीत उसे अनिश्चितकाल तक जारी रखा जा सकता है, जब तक कि उसे वापस न ले लिया जाए या उसमें परिवर्तन न कर दिया जाए।

सौभाग्य से, अभी तक संविधान के प्रवर्तन के विगत 51 वर्षों (1950-2000) के दौरान वित्तीय आपात लागू करने का एक भी अवसर नहीं आया है।

11

निर्वाचन और निर्वाचन आयोग

अनुच्छेद 324 कहता है कि एक निर्वाचन आयोग होगा। वह संसद और प्रत्येक राज्य विधानमंडल के वास्ते तथा राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति के पदों के वास्ते सभी निर्वाचनों का अधीक्षण, निदेशन और नियंत्रण करेगा। निर्वाचन आयोग में मुख्य निर्वाचन आयुक्त और उतने अन्य निर्वाचन आयुक्त होंगे, यदि कोई हों, जितने राष्ट्रपति समय-समय पर नियत करे। जब अन्य निर्वाचन आयुक्त नियुक्त किए जाते हैं तब मुख्य निर्वाचन आयुक्त अध्यक्ष के रूप में कार्य करेगा।

अनुच्छेद 324 का यह उपबंध भी है कि आम चुनावों के समय मुख्य निर्वाचन आयुक्त से परामर्श करने के बाद प्रादेशिक आयुक्तों की नियुक्ति की जाए। मुख्य निर्वाचन आयुक्त को उसके पद से उसी रीति तथा उन्हीं आधारों पर हटाया जा सकता है जिनका निर्देश उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए किया गया है। उसकी सेवा की शर्तों को उसकी नियुक्ति के पश्चात उसके लिए अलाभकारी रूप में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। अन्य निर्वाचन आयुक्तों को, यदि कोई हों, मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सिफारिश पर उनके पद से हटाया जा सकता है।

अनुच्छेद 325 का उपबंध है कि संसद के प्रत्येक सदन या किसी राज्य विधानमंडल के सदन या प्रत्येक सदन के निर्वाचन के लिए प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र की एक साधारण निर्वाचक-नामावलि होगी। न तो कोई व्यक्ति धर्म, मूलवंश, जाति

या लिंग के आधारों पर ऐसी नामावली में शामिल किए जाने के लिए अपात्र होगा और न ही कोई व्यक्ति किसी ऐसे आधार पर किसी ऐसे निर्वाचन क्षेत्र के लिए किसी विशेष निर्वाचक-नामावली में शामिल किए जाने का दावा कर सकेगा।

अनुच्छेद 327 संसद को विधायी शक्ति प्रदान करता है। उसके अनुसार वह संसद के प्रत्येक सदन या किसी राज्य विधानमंडल के सदन या उसके प्रत्येक सदन के निर्वाचनों से संबंधित सभी मामलों के बारे में कानून बना सकेगी। इनमें निर्वाचक-नामावलियों की तैयारी, निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन तथा "ऐसे सदन या सदनों का सम्यक गठन सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक" सभी अन्य मामले भी शामिल हैं।

अनुच्छेद 328 राज्य विधानमंडलों को इस बारे में शक्तियाँ प्रदान करता है कि वे राज्यों के किसी विधानमंडल के सदन या प्रत्येक सदन के निर्वाचनों के बारे में कानून बना सकते हैं।

अनुच्छेद 329 निर्वाचन संबंधी मामलों में न्यायालयों के हस्तक्षेप की वर्जना करता है। इनमें (1) अनुच्छेद 327 या 328 के अधीन निर्वाचन क्षेत्रों के परिसीमन या स्थानों के आवंटन से संबद्ध कोई विधि और (2) संसद या राज्य विधानमंडल के प्रत्येक सदन के निर्वाचन की वैधता भी शामिल है। किसी निर्वाचन की वैधता के बारे में आपत्ति केवल निर्वाचन-याचिका द्वारा की जा सकती है। यह याचिका ऐसे प्राधिकारी को ऐसी रीति से प्रस्तुत की जाएगी जिसका प्रावधान संबद्ध विधानमंडल विधि द्वारा करे। लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम के अधीन निर्वाचन-विवादों के निपटारे की शक्ति उच्च न्यायालयों में निहित है। तत्संबंधी अपील उच्चतम न्यायालय में की जा सकती है। लेकिन राष्ट्रपति अथवा उपराष्ट्रपति के निर्वाचन संबंधी विवादों का निपटारा उच्चतम न्यायालय ही करेगा।

निर्वाचन संबंधी सुधार

प्रथम आम चुनावों के समय से ही चुनाव सुधारों की आवश्यकता पर बहस चल रही है। एक के बाद एक कार्य सँभालने वाले चुनाव

आयोगों, और गोस्वामी एवं गुप्ता समितियों समेत अनेक समितियों तथा आयोगों ने इस संबंध में कई सुझाव दिए। स्वयं सरकार ने समय-समय पर कई प्रस्ताव तैयार किए। वर्तमान चुनाव आयोग और विधि आयोग ने भी इस विषय से संबंधित व्यापक संस्तुतियाँ की हैं। संविधान के कार्यकरण की समीक्षा के लिए राष्ट्रीय आयोग भी इस विषय पर विचार कर रहा है।

12

सांविधानिक संशोधन

संविधान-संशोधन का सूत्रपात केवल संसद के दोनों सदनों में से किसी में विधेयक का पुरःस्थापन करके ही किया जा सकता है। अतः संविधान-संशोधन के मामले में पहला कदम केवल संसद ही उठा सकती है। अधिकांशतया संविधान के उपबंधों का संशोधन संसद एक विशेष बहुमत से ही कर सकती है। वह है प्रत्येक सदन के उपस्थित तथा मतदान करने वाले कम-से-कम दो तिहाई सदस्यों का बहुमत। केवल सीमित श्रेणी के संविधान उपबंधों के बारे में (यानी, सातवीं अनुसूची की सूचियों से, संसद में राज्यों के प्रतिनिधित्व से, अनुच्छेद 368 आदि से संबंधित संविधान-उपबंधों के बारे में) यह व्यवस्था है कि जब संसद का प्रत्येक सदन विहित विशेष बहुमत से संशोधन-विधेयक को पारित कर दे तो ज़रूरी है कि कम-से-कम आधे राज्यों के विधानमंडल उसका अनुसमर्थन करें। जब विधिवत पारित/अनुसमर्थित रूप में संविधान-संशोधन विधेयक को अनुमति के लिए राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है तो राष्ट्रपति को अनुमति देनी ही होगी और विधान संबंधी साधारण विधेयकों के विपरीत उसके पास कोई विकल्प नहीं होता कि वह अपनी अनुमति रोक ले या विधेयक को पुनर्विचार के लिए लोक सभा को लौटा दे। अन्ततः यह महत्वपूर्ण है कि संविधान में ऐसा कोई उपबंध नहीं है जिसका संशोधन नहीं किया जा सकता क्योंकि संसद हर प्रकार से संविधान के किसी भी उपबंध का परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन कर सकती है और

ऐसे संशोधनों पर किसी भी न्यायालय में किसी भी आधार पर आपत्ति नहीं उठाई जा सकती, जब तक कि उनका उद्देश्य ऐसा परिवर्तन अथवा उल्लंघन न हो जिसे संविधान के मूलाधारों का उल्लंघन समझा जाए।

1973 में *केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य* में उच्चतम न्यायालय के सात न्यायाधीशों ने बहुमत से निर्णय दिया कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन की शक्ति निहित अर्थ वाली सीमा के अधीन है। वह एक ऐसी सीमा है जो इस आवश्यक निहितार्थ से उत्पन्न हुई है कि वह 'संविधान-संशोधन' की शक्ति है। *7: 6 के बहुमत से न्यायालय ने निर्णय दिया कि* ''अनुच्छेद 368 संसद को संविधान की 'मूल संरचना' या साँचे-ढाँचे में परिवर्तन की शक्ति प्रदान नहीं *करता।''* लेकिन मूल संरचना *क्या* है, इसे बहुमत ने स्पष्ट नहीं किया और प्रश्न विवादास्पद बना रहा।

'मूल लक्षणों' के सिद्धांत की वर्तमान स्थिति यह है कि जब तक केशवानन्द के मामले में दिए गए निर्णय को उच्चतम न्यायालय की कोई पूर्ण पीठ उलट नहीं देती, तब तक संविधान के किसी भी संशोधन के बारे में न्यायालय इस आधार पर हस्तक्षेप कर सकता है कि वह संविधान के किसी एक या दूसरे मूल लक्षण पर प्रभाव डालता है।

इस संबंध में अभी तक न्यायाधीशों के बीच न तो कोई मतैक्य हुआ है और न ही बहुमत का कोई निर्णय उपलब्ध है जिसके द्वारा संविधान के उन लक्षणों का निर्धारण किया गया हो जिन्हें 'मूल' माना जाए। न्यायालय ने अभी मूल लक्षणों की सूची पर पूर्ण विराम नहीं लगाया है जैसा कि विभिन्न मामलों में विभिन्न न्यायाधीशों के निर्णयों से पता चलता है। इंदिरा नेहरू गांधी के मामले में न्यायमूर्ति चन्द्रचूड़ ने कहा था, ''हर विशिष्ट मामले में, अमूर्त रूप में नहीं बल्कि ठोस समस्या के संदर्भ में, मूल संरचना के सिद्धांत पर विचार किया जाना है।''

1950 में संविधान के प्रारंभ से लेकर अब तक संविधान में 83 संशोधन किए जा चुके हैं। यह सब संसद की संविधायी शक्ति का प्रयोग करके किया गया है।

इस बारे में काफी मतभेद है कि संविधान-संशोधन शक्ति का बार-बार बहुधा दुरुपयोग या सदुपयोग किया गया है। जैसा कि नेहरू ने कहा था, "संविधान कितना भी बढ़िया हो, वह हर नज़रिए से पूरा नहीं हो सकता है और इस बात की ज़रूरत पड़ सकती है कि उसे अमल में लाने में जो ख़ामियाँ दीख पड़ें, उन्हें दूर करने के लिए उसमें फेरबदल किया जाए"।

औपचारिक तौर पर संविधान के अनुच्छेद 368 के अंतर्गत जो 83 संशोधन अब तक हुए उन सबको बराबर का महत्वपूर्ण अथवा ठोस नहीं कहा जा सकता। अधिक व्यापक प्रभाव वाले तथा अनेक अनुच्छेदों में बदलाव लाने वाले संशोधन तो अब तक सातवाँ, बयालीसवाँ और चवालीसवाँ ही रहे हैं। एक प्रकार से संशोधनों को चार मोटी श्रेणियों में बाँटा जा सकता है :

1. *गौण, स्पष्ट करने वाले अथवा अनुवर्ती :* जैसे दूसरे संशोधन ने संसदीय निर्वाचन-क्षेत्र के लिए अनुच्छेद 81(1)(6) में दी गई जनसंख्या की ऊपरी सीमा समाप्त कर दी; पाँचवें संशोधन ने राष्ट्रपति को यह अधिकार दे दिया कि वह किसी राज्य को अनुच्छेद 34 के अंतर्गत भेजे गए विधेयक पर राय देने के लिए समय सीमा निर्धारित कर दे; ग्यारहवें संशोधन ने उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए संसद की संयुक्त बैठक का अनावश्यक प्रावधान हटा दिया और यह स्पष्ट कर दिया कि निर्वाचक मण्डल में कोई स्थान रिक्त होने के आधार पर निर्वाचन की वैधता को चुनौती नहीं दी जा सकेगी (अनुच्छेद 66 और 71); और तेरहवें संशोधन ने नए नागालैण्ड राज्य की रचना संबंधित समझौते को मूर्तरूप देने के लिए संविधान में एक नया अनुच्छेद 371क जोड़ दिया।

2. *संपत्ति संबंधी अनुच्छेद में संशोधन तथा मूल अधिकारों को सीमित करना अथवा निदेशक तत्वों को प्राथमिकता देना :* प्रथम संशोधन ने अनुच्छेद 19 के खण्ड (2) में वाक् स्वातंत्र्य पर निर्बन्ध के आधारों में विदेशी राज्यों के साथ मैत्री पूर्ण संबंध, लोक व्यवस्था और अपराध उद्दीपन के नये आधार जोड़ दिए। ज़मींदारों

के संपत्ति संबंधी मूल अधिकारों का अतिक्रमण करने के आधार पर अदालतों द्वारा अवैध घोषित किए जाने वाले भूमि सुधार संबंधी अधिनियमों को इस संशोधन ने सुरक्षा प्रदान करने का प्रयास किया। एक नई नवीं अनुसूची संविधान में जोड़ी गई और कहा गया कि इस अनुसूची में शामिल किए गए अधिनियमों को न्यायालयों में चुनौती नहीं दी जा सकेगी। जनहित में राष्ट्रीयकरण करने के राज्य के अधिकार का स्पष्टीकरण किया गया (अनुच्छेद 15, 19 और 31)। अनुच्छेद 85, 87, 174 और 176 में संशोधन करके संसद और राज्यों की विधान पालिकाओं के सत्र बुलाने, राष्ट्रपति और राज्यपालों द्वारा संबोधन करने आदि प्रक्रियाओं का सरलीकरण किया गया और उन्हें अधिक युक्तिसंगत बनाया गया।

राज्य द्वारा संपत्ति के अधिग्रहण को लेकर उच्चतम न्यायालय के निर्णयों और मुआवज़े देने की आवश्यकताओं के संदर्भ में चौथे संशोधन ने निजी संपत्ति का अनिवार्य अर्जन और अधिग्रहण करने की राज्य की शक्ति को अधिक स्पष्ट करने का काम किया। यह भी स्पष्ट किया गया कि किसी व्यापार या कारबार विशेष में किसी राज्य के एकाधिकार का उपबंध करने वाला अधिनियम व्यापार और वाणिज्य की स्वतंत्रता के विरुद्ध नहीं माना जा सकता (अनुच्छेद 31, 31क और 305 तथा नवीं अनुसूची)।

सतरहवें संशोधन ने संविधान की धारा 31क में प्रयुक्त 'एस्टेट' शब्द की परिभाषा सुधारने का प्रयास किया गया तथा कुछ और अधिनियम नवीं सूची में शामिल कर दिए गए।

चालीसवें संशोधन ने नवीं अनुसूची में राज्यों के 64 नए अधिनियम जोड़ दिए तथा अनुच्छेद 297 के स्थान पर एक नया अनुच्छेद रखा जिसके द्वारा समुद्र तल में स्थित सभी भूमि, खनिज तथा अन्य मूल्यवान वस्तुओं पर संघ का अधिकार स्थापित किया गया।

आपातकाल में अधिनियमित बयालीसवाँ संशोधन अभी तक का सबसे अधिक विवादास्पद अधिनियम रहा है। यह अत्यन्त व्यापक था और इसके परिणाम दूरगामी रहे। इसके द्वारा संविधान की

उद्देशिका में समाजवाद, पंथ निरपेक्षता और राष्ट्र की अखण्डता जैसे शब्द जोड़े गए। नागरिकों के मूल कर्तव्यों पर एक नया अध्याय जोड़ना तथा निर्देशक तत्वों को मूल अधिकारों के ऊपर प्राथमिकता देना भी इस संशोधन का काम था। किंतु, संशोधन के जिन अंशों पर गंभीर आपत्ति होनी स्वाभाविक थी वह थे - उच्च न्यायालयों के अधिकार क्षेत्रों में कमी और कार्यांग को अधिक निरंकुश शक्ति, संघ सरकार की शक्तियों में बढ़ोतरी और राज्य सरकारों की शक्तियों में कमी, परिसंघात्मक व्यवस्था की जड़ों पर आघात, प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद की शक्तियों का अधिक स्पष्ट विवेचन और राष्ट्रपति को केवल उनकी सहायता और सलाह पर ही काम करने का निर्देश, अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत संसद के संविधान में कोई भी संशोधन करने के अधिकार पर बल और संविधान संशोधनों के न्यायिक पुनरीक्षण अथवा अन्य किसी बाहरी नियंत्रण पर पाबन्दी।

चवालीसवें संशोधन का उद्देश्य था मूल अधिकारों की श्रेणी से संपत्ति के अधिकार को समाप्त करना जिसके कारण संविधान में अनेक संशोधन हुए थे, आपातकाल संबंधी उपबंधों का दुरुपयोग रोकना, जन संचार साधनों के संसद और राज्य विधान मण्डलों की कार्यवाहियों को बिना सेंसर रिपोर्ट करने के अधिकार को सुनिश्चित करना, न्यायिक निर्णयों के विलंब को कम करना और आंतरिक आपातकाल की अवधि के दौरान किए गए संशोधनों से संविधान में उत्पन्न विकारों को दूर करना। इस संशोधन ने आपातकाल की उद्घोषणा करना अपेक्षाकृत कठिन बना दिया तथा बिना संसद के अनुमोदन के अब वह एक माह से अधिक लागू नहीं रह सकती थी। चवालीसवें संशोधन ने बयालीसवें संशोधन द्वारा किए गए बहुत से प्रावधानों को उलट दिया।

कई संविधान संशोधन अधिनियमों ने नवीं अनुसूची में तरह-तरह के बहुत से अधिनियमों की ताज़ा सूचियाँ केवल इस उद्देश्य से जोड़ीं कि उन पर न्यायालय में आपत्ति न की जा सके और न्यायालय उन्हें मूल अधिकारों के विरुद्ध होने के आधार पर अवैध क़रार न कर सकें। पहले संशोधन ने तो नवीं सूची में केवल

13 भूमि सुधार संबंधी अधिनियम रखे थे किंतु अब यह सूची 284 तक पहुँच गई है।

3. *अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अल्पसंख्यकों को अधिक सुरक्षा प्रदान करना :* पहला, सातवाँ, आठवाँ, इक्कीसवाँ, बाईसवाँ, तैंतीसवाँ, इक्यावनवाँ, तिरेपनवां, सत्तावनवाँ, बासठवाँ, पैंसठवाँ, छियत्तरवां, सतत्तरवां, उनान्सीवां, बयासीवां और तिरासीवां संशोधन सभी अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए तथा उन्हें और अधिक सुरक्षा-सुविधाएँ प्रदान करने के लिए पारित किए गए। इनमें से कुछ तो केवल आरक्षणों की अवधि अगले दस साल के लिए और बढ़ाने मात्र के लिए लाने पड़े।

4. *भारत संघ में नए राज्य क्षेत्रों का प्रवेश :* दसवाँ, बारहवाँ और चौदहवाँ संशोधन पुर्तगाली और फ्रांसीसी आधिपत्य से मुक्त हुए भू-क्षेत्रों के भारत संघ में शामिल किए जाने के लिए आवश्यक हुए।

उपरोक्त प्रकार के संशोधनों के अतिरिक्त, कई संशोधन जिन कारणों से अनिवार्य हो गए वह थे - राज्य पुनर्गठन की योजनाओं का कार्यान्वयन, सभी राज्यों को बराबरी के स्तर पर लाना और भाषाई आधार पर गठन (उदाहरणतः सातवाँ संशोधन) आदि तथा उत्तर-पूर्व में मिज़ो, नागा आदि जनसमुदायों से हुए समझौतों को लागू करना। दो संशोधन सिक्किम राज्य के भारत संघ में प्रवेश से ही संबंधित थे।

1985 में पारित 52वां संशोधन संसद और राज्य विधान मण्डलों के सदस्यों द्वारा दल-बदल की कुप्रथा पर रोक लगाने के उद्देश्य से किया गया। 61वां संशोधन अनुच्छेद 326 में मतदान की आयु 21 से घटाकर 18 वर्ष करने के लिए लाया गया। इधर कुछ वर्षों में हुए संविधान संशोधनों में सम्भवतः सबसे अधिक महत्वपूर्ण और क्रांतिकारी 73वां और 74वां संशोधन माने जाएँगे क्योंकि उन्होंने सत्ता और शक्ति को आम आदमी तक पहुँचाने का

प्रयास किया तथा पंचायतों और नगर पालिकाओं को अधिक सार्थक स्थिरता, निरंतरता और सांविधानिक प्रतिष्ठा प्रदान की। जून 2000 में अधिनियमित 80वें और 81वें संशोधनों ने संघ द्वारा लगाए गए तथा राज्यों को आवंटित अथवा उनके साथ बाँटे गए करों से संबंधित अनुच्छेद 269-272 को संशोधित किया तथा अनुच्छेद 16 में एक नया उपबंध जोड़कर यह सुनिश्चित किया कि आरक्षित स्थानों में किसी वर्ष में रिक्त रहे स्थानों को उस वर्ष की 50 प्रतिशत आरक्षण की सीमा से अलग रखा जाए। 82वें संशोधन के द्वारा अनुच्छेद 335 में एक परन्तुक जोड़कर यह स्पष्ट किया गया कि संघ और राज्यों की सेवाओं में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों के लिए पदोन्नति के द्वारा आरक्षित स्थानों को भरने के लिए न्यूनतम अंकों की आवश्यकता कम करने अथवा मूल्यांकन का स्तर गिराने के प्रावधान किए जा सकते हैं। 83वें संशोधन ने स्पष्ट किया कि अनुच्छेद 243ग में अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षण संबंधी उपबन्ध अरुणाचल प्रदेश पर लागू नहीं होंगे। 82वें और 83वें दोनों संशोधन सितम्बर 2000 में अधिनियमित हुए।

इतनी जल्दी-जल्दी इतने सारे--51 वर्ष में 83--संशोधन होने का एक मुख्य कारण हमारे संविधान का बहुत लम्बा होना है। बहुत से मामले जो प्रायः साधारण विधियों द्वारा नियंत्रित होने चाहिए ऐतिहासिक अथवा कुछ अन्य कारणों से संविधान का अंग हैं और उनमें कोई भी परिवर्तन संविधान-संशोधन के बिना सम्भव नहीं।

13

स्थानीय शासन और पंचायतें

संविधान में 73वें और 74वें संशोधन के द्वारा भाग 9 और 9क जोड़ा गया है। इन दो भागों के अंतर्गत अनुच्छेद 243 से लेकर 243ह तक कुल 34 नये अनुच्छेद तथा 11वीं और 12वीं दो नयी अनुसूचियाँ संविधान का अंग बन गई हैं। 73वां संशोधन पंचायत संबंधी उपबंध करता है और 74वां नगरपालिकाओं के बारे में है।

पंचायतों और नगरपालिकाओं की बात कुछ नई नहीं है, देश के अनेक राज्यों में पंचायत विषयक कानून थे, नगरपालिकाओं, ज़िला परिषदों आदि का उपबंध था। किंतु प्रायः यह संस्थाएँ अधिक समय तक सफलतापूर्वक नहीं चल पाती थीं जिसके अनेक कारण थे। यद्यपि महात्मा गांधी गाँवों को, पंचायतों और स्थानीय स्वशासी संस्थाओं को स्वराज्य की संकल्पना में प्रमुख स्थान देते थे, संविधान सभा उन्हें संविधान में समुचित प्रतिष्ठा नहीं दे पाई। गांधी जी की भावनाओं का कुछ आदर रखने और एक समझौते के रूप में केवल निदेशक तत्वों के अंतर्गत अनुच्छेद 40 में राज्य से कहा गया कि ग्राम पंचायतों के गठन के लिए कदम उठाए और उन्हें स्वशासन की इकाइयों के रूप में काम करने के आवश्यक अधिकार दे। लेकिन लगभग 40 वर्षों तक इस दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाए गए।

अब 73वें और 74वें संशोधनों से इन संस्थाओं को संवैधानिक प्रतिष्ठा और संरक्षण मिल गया है। 73वें और 74वें संविधान

संशोधनों में उपबंध है कि राज्यों के विधानमंडल पंचायतों और नगरपालिकाओं आदि के लिए अपने-अपने कानून बनाएंगे। हरेक राज्य में गाँव तथा ज़िला और दोनों के बीच के स्तर पर पंचायतें स्थापित की जाएँगी। जिन राज्यों की जनसंख्या 20 लाख से अधिक नहीं है, उनमें बीच के स्तर पर पंचायतों की आवश्यकता नहीं होगी। महत्वपूर्ण बात यह है कि अब पंचायतों का चुनाव सीधे जनता के द्वारा होगा उसी तरह जैसे क्षेत्रीय निर्वाचन क्षेत्रों से वह लोक सभा और विधान सभा के सदस्यों को निर्वाचित करती है। ग्राम पंचायत की निर्वाचक ग्राम सभा होगी और ग्राम के सभी पंजीकृत मतदाता ग्राम सभा के सदस्य होंगे। पंचायतों को अधिक समय के लिए स्थगित अथवा निरस्त नहीं किया जा सकेगा क्योंकि 6 महीने के भीतर चुनाव कराना अनिवार्य होगा। दूसरे, सभी पंचायतों में महिलाओं को, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों को आरक्षण प्राप्त होगा। पंचायतों का 6 वर्ष का निश्चित कार्यकाल होगा। उनका अपना बजट होगा, कर लगाने की शक्ति होगी तथा उनके अपने विषय और अधिकार क्षेत्रों की सूची (11वीं सूची) होगी। पंचायतें अपने-अपने क्षेत्रों के लिए आर्थिक विकास की योजनाएँ बना सकेंगी और उन्हें कार्यान्वित कर सकेंगी। पंचायतों के चुनाव कराने के लिए प्रत्येक राज्य में एक राज्य निर्वाचन आयुक्त की नियुक्ति होगी तथा हर पांचवें वर्ष पंचायतों की आर्थिक स्थिति का जायज़ा लेने के लिए एक वित्त आयोग बैठाया जाएगा।

इसी प्रकार, 74वें संविधान संशोधन में नगर पंचायत, नगरपालिका आदि के विषय में रूपरेखा दी गई है और प्रत्येक राज्य से अपेक्षा की गई है कि वह अपने-अपने कानून बनाए। आरक्षण, निर्वाचन, कर लगाने की शक्ति, आर्थिक विकास के लिए योजना बनाने और लागू करने की शक्ति, वित्त आयोग की स्थापना, निश्चित कार्यकाल आदि के मामलों में उपबंध लगभग वैसे ही हैं जैसे 73वें संशोधन में पंचायतों के लिए दिए गए हैं।

सभी राज्यों ने साल भर के भीतर संविधान के आदेशानुसार अपने-अपने कानून बना लिए थे। अधिकांश राज्यों में स्थानीय

संस्थाओं के निर्वाचन भी हो गए हैं अथवा हो रहे हैं। आशा की जानी चाहिए कि नई पंचायतें और नगरपालिकाएँ देश में वास्तविक भागीदारी लोकतंत्र के एक नये अध्याय का सूत्रपात करेंगी और शक्ति और सत्ता जनता के हाथों में पहुँचेगी जहाँ उसका वास सदैव होना चाहिए।

14

संविधान का कार्यकरण

हमारा संविधान अपने जीवन के 51 वर्ष पूरे कर रहा है। ये जो लगभग पाँच दशक बीते हैं, अत्यंत घटनापूर्ण रहे। आज का युग गति का युग है। हमारा समाज और उसकी समस्याएँ-आवश्यकताएँ झंझावात के वेग से बदल रहे हैं। लगता है शताब्दियाँ वर्षों में सिमट आई हैं। ऐसी स्थिति में एक अर्द्धसदी संविधान के कार्यकरण का लेखा-जोखा तैयार करने के लिए कोई बहुत छोटा काल नहीं होता। यह उचित ही होगा कि देश भर में विभिन्न स्तरों पर देश के नागरिकों के द्वारा संविधान के अंतर्गत स्थापित संस्थाओं और निकायों के कामों का -- विधानपालिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका द्वारा संविधान के कार्यकरण का -- और उनकी सफलताओं-असफलताओं का आकलन किया जाए।

स्वाधीन भारत की यह सबसे बड़ी उपलब्धि थी कि तीन वर्ष से भी कम में हम इस विशाल आबादी वाले, विविधता भरे, तरह-तरह से विखण्डित-विभाजित देश के लिए एक सर्वमान्य संविधान बना सके और 51 वर्षों तक, अनेक विकट समस्याओं के बावजूद यह संविधान कायम रहा और चलता रहा। सभी आपदाओं-समस्याओं का समाधान सांविधानिक व्यवस्था के भीतर ही किया गया। स्पष्ट है कि हमारे संविधान-निर्माता उस समय के सर्वश्रेष्ठ विद्वान, विधिवेत्ता और दूरदृष्टि वाले देशभक्त थे। किन्तु, वे कोरी कॉपी पर नहीं लिख रहे थे। उन्होंने जो संविधान बनाया

वस्तुतः उसका क्रामिक विकास अंग्रेज़ी राज के वर्षों में राष्ट्रीय आंदोलन की माँगों और विदेशी शासकों द्वारा रुक-रुक कर मंज़ूर किए गए सांविधानिक सुधारों के बीच हुआ। संविधान के जनकों ने स्वयं इस बात को साफ़ कर दिया था कि वह नितांत स्वतंत्र रूप से या एकदम नए सिरे से स्वाधीन भारत के लिए किसी नए संविधान-लेखन का काम नहीं कर रहे थे। नतीजा यह हुआ कि 26 नवंबर 1949 को जो संविधान हमारी संविधान सभा ने पारित किया उससे देश को औपनिवेशिक मॉडल से मुक्ति नहीं मिली।

संविधान सभा के उठ जाने और 26 जनवरी 1950 को संविधान के लागू होने और भारत के एक संप्रभुता संपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य बन जाने के बाद भी संविधान निर्माण का काम समाप्त नहीं हुआ। गत 51 वर्षों में यह संविधान न्यायालयों द्वारा दिए गए निर्वचनों, संसद द्वारा किए गए संशोधनों तथा कतिपय सांविधानिक उपबंधों के अधीन बनाए गए कानूनों, और कार्यकरणजन्य परिपाटियों के आधार पर बराबर बनता-बदलता रहा है।

संविधान के अधीन देश ने महती प्रगति की। ढेर सारी उपलब्धियाँ हैं। दो पड़ोसी देशों के कितने ही आक्रमणों का सामना किया गया। गुट निरपेक्षता एवं शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के ठोस सिद्धांतों वाली सार्थक विदेश नीति का विकास किया गया। एक समय भारत की दूरदृष्टि तथा नेतृत्व को एक साथ सौ से भी अधिक देशों ने स्वीकार किया। धरती पर सबसे बड़े लोकतंत्र में, सबसे विशाल निर्वाचक समूह के लिए 13 बार लोक सभा के तथा अनेक बार विधान सभाओं के आम चुनाव सफलतापूर्वक कराए गए। कई बार एक दल से दूसरे दल के हाथों अथवा गठबंधन के हाथों में शांतिपूर्ण सत्ता का हस्तांतरण हुआ। राज्य व्यवस्था पर कितने ही बाहरी तथा आंतरिक दबाव और तनाव पड़े किंतु देश अडिग रहा। संविधान ने राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता तथा राज्य व्यवस्था के पंथनिरपेक्ष स्वरूप को अक्षुण्ण रखा और व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं गरिमा को सुनिश्चित तथा प्रातिनिधिक संसदीय लोकतंत्र व्यवस्था को सुरक्षित रखा। जब हम अपने चारों ओर के

देशों पर नज़र दौड़ाते हैं तो यह उपलब्धियाँ और भी महान लगने लगती हैं क्योंकि आज विश्व भर में इने-गिने राष्ट्र ही हैं जहाँ वास्तव में सक्रिय लोकतंत्र तथा स्वाधीनता शेष हैं। कतिपय अस्थायी पथभ्रंश के बावजूद हम कुल मिलाकर अपने संविधान और उसके कार्यकरण पर गर्व कर सकते हैं। पोखरन-II के परीक्षण के बाद भारत के आणविक शक्ति होने के बारे में कोई सन्देह नहीं रहा। प्रक्षेपणास्त्रों के क्षेत्र में आधुनिकतम तकनीक और शिल्प हमारे वैज्ञानिकों के पास है। अंतरिक्ष खोज एवं जननिक अभियांत्रिकी में भारत संसार के इने-गिने राष्ट्रों में है। बीसवीं शताब्दी के समाप्त होते समय, मुद्रास्फीति की दर लगभग दो प्रतिशत मात्र हो गई थी, अनाज का उत्पादन हमेशा से अधिक -- लगभग बीस करोड़ टन होने की आशा थी, विदेशी मुद्रा का सुरक्षित भंडार समुचित था और देश 6 प्रतिशत की आर्थिक विकास दर प्राप्त करने की ओर अग्रसर था। लोक सभा अब की बार त्रिशंकु सदन नहीं रही थी और एक सरकार आसानी के साथ बन गई थी और दो वर्षों से सफलतापूर्वक चल रही है।

किंतु, हमारी सांविधानिक-राजनैतिक व्यवस्था का एक दूसरा पक्ष भी है जो इतना सुखद नहीं, उत्साहवर्धक नहीं। हम देखते हैं कि गत 51 वर्षों में वर्तमान व्यवस्था के चलते सभी क्षेत्रों तथा सभी व्यवसायों में मूल्यों का ह्रास हुआ है। भाषायी, जातीय, साम्प्रदायिक और प्रादेशिक आधारों पर हम, भारत के लोगों के मानस विभाजित हुए हैं। जहाँ-तहाँ आतंकवादी गतिविधियाँ बढ़ी हैं, चुनावों में धन-बल और बाहु-बल का बोलबाला रहा है। अपराधवृत्ति पर राजनीति का और राजनीति पर अपराधवृत्ति का रंग चढ़ रहा है। विधान मण्डलों में विधायकों के आचरण पर प्रश्नचिह्न लग रहा है। यत्र-तत्र जातिवाद और सांप्रदायिकता की ताकतें अपना घिनौना रूप दिखाती रही हैं।

संविधान की उद्देशिका में सँजोए गए मूलभूत लक्ष्य और मूल्य इन 51 वर्षों में भुला दिए गए। राजनीति सेवा का माध्यम न होकर लूट-खसोट के लिए और मंत्री पदों और विभागों के बँटवारे मात्र के लिए रह गई। बेतहाशा बढ़ती हुई आबादी की समस्या को

हम नहीं सुलझा सके, गरीबी और निरक्षरता की समस्या और भी विकराल हो गई। आज दुनिया के और किसी देश में इतने गरीब और निरक्षर लोग नहीं हैं जितने भारत में हैं और यह संख्या इन 51 वर्षों में बढ़ी है कम नहीं हुई। यह देश के लिए चिंता की बात है तथा लोकतंत्र, सांविधानिकता तथा संसदीय संस्कृति के मूल्यों के लिए एक भारी चुनौती है।

इस व्यवस्था के चलते व्यापारियों, राजनेताओं, सरकारी अफसरों, तस्करों, पुलिसकर्मियों और अपराधियों के बीच एक धुरी बन गई है। नई पीढ़ी के कितने ही नेताओं के लिए जनहित के मामले अंतिम प्राथमिकता रखते हैं। शक्ति और सत्ता का प्रयोग और उपभोग केवल स्वार्थपूर्ति के लिए करना ही सबसे बड़ी मान्यता हो गई है। जो सत्ता में आ जाते हैं उनका सारा समय अपनी कुर्सियाँ बचाए रखने के संघर्ष में तथा स्वार्थ सेवा में ही लग जाता है, जनता की समस्याओं पर ध्यान देने का कोई समय बचता ही नहीं। प्रशासन और राजनीतिक व्यवस्था जिस प्रकार चली हैं उसमें आम नागरिक को स्वाधीनता के विहान का, स्वराज्य और स्वदेशी का, सत्ता के हस्तांतरण का आभास भी नहीं मिला।

ऐसी स्थिति में भी वह सब लोग जिनका वर्तमान राजनैतिक-सांविधानिक व्यवस्था में निहित स्वार्थ है, तोते की तरह दोहराते रहते हैं कि व्यवस्था में कोई दोष नहीं है, यदि वह असफल रही तो उसे चलाने वालों का दोष है या फिर हम भारत के लोगों में ही कमियाँ हैं। ऐसा कहने वाले लोग यह भूल जाते हैं कि संविधान को चलाने वाले लोग भी इसी व्यवस्था की उपज हैं, संविधान और राजनैतिक व्यवस्थाएँ सब साधन मात्र हैं, साध्य नहीं। हम लोगों में कमियाँ हो सकती हैं किन्तु भारत के लोगों को तो नहीं बदला जा सकता और न ही इस व्यवस्था को चलाने के लिए विदेशों की जनता का आयात किया जा सकता है। हमें व्यवस्था में ही ऐसे सुधार करने होंगे जो हमारी कमियों और कमज़ोरियों का भी ध्यान रख सकें और हमारी आस्थाओं, आकांक्षाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।

किसी भी प्रातिनिधिक लोकतंत्र में दो प्रमुख सरोकार होते हैं--स्थिरता और उत्तरदायित्व। सरकार को इतना स्थायित्व प्राप्त होना चाहिए जिससे वह जनसाधारण को सुरक्षा और सुशासन दे सके तथा आर्थिक विकास की गति सुनिश्चित कर सके। साथ ही यह भी ज़रूरी है कि शासन जनमत और जनकल्याण की आवश्यकताओं के प्रति जागरूक रहे तथा जनता और उसके प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी रहे।

हमारे संविधान निर्माताओं को उस उपनिवेशवादी निरंकुश शासन का कटु अनुभव था जो न तो जनता का प्रतिनिधित्व करता था और न ही उसकी आशाओं, आकांक्षाओं और आवश्यकताओं की ओर ध्यान देता था। वह भारत के लोगों के प्रति अथवा किसी प्रतिनिधि निकाय के प्रति उत्तरदायी नहीं था। अत: यह स्वाभाविक था कि हमारे संविधान निर्माताओं ने कार्यपालिका के 'उत्तरदायित्व' तथा प्रशासन की जवाबदेही को सर्वोपरि स्थान दिया। उन्होंने संसदीय प्रणाली को अंगीकार किया जिसमें मंत्रियों के विधानपालिका के प्रति उत्तरदायित्व की संकल्पना थी। लेकिन लगता है कि उन्होंने ऐसी स्थिति की पूर्व संकल्पना नहीं की थी जिसमें मंत्रियों के दायित्व की संकल्पना में जनसाधारण के प्रति दायित्व शामिल नहीं होगा और जहाँ यह संकल्पना सरकार को राजनीतिक दलों के प्रति सदस्यों की बदलती हुई निष्ठा का इतनी बुरी तरह दास बना देगी कि वह सदन में दल-बदल तथा अस्थायी बहुमत का सहारा लेने को बाध्य हो जाएगी।

दल-बदल निरोधक कानून के पीछे एक प्रमुख उद्देश्य यह था कि सरकारों की अस्थिरता पर रोक लगे किन्तु यह कानून दल-बदल को रोकने में नितान्त असफल रहा। केवल दल-बदल झुंडों अथवा समूहों में होने लगे ताकि दलीय विभाजन अथवा विलय के नाम पर सदस्यगण अपनी सदस्यता से वंचित होने के खतरे से बचे रहें। उसके अलावा, 10वीं अनुसूची ने सदस्यों से उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण मतदान में पूर्ण स्वतंत्रता का विशेषाधिकार छीन लिया। अब कोई सदस्य अपने निजी विवेक और स्वेच्छानुसार मतदान नहीं कर सकता। सचेतक के निदेश के

विरुद्ध मतदान करने से वह अपनी सदस्यता गँवा सकता है। दूसरी ओर विडंबना यह है कि न्यायालय के निर्णय के अनुसार यदि कोई सदस्य सदन में अपना मत देने के लिए घूस भी लेता है तो वह संसदीय विशेषाधिकार विधि के अन्तर्गत सुरक्षित माना जाएगा और उसके विरुद्ध भ्रष्टाचार की कोई कार्यवाही अदालत में नहीं की जा सकती।

इधर कुछ लोगों ने विचार प्रकट किए कि संसदीय व्यवस्था हमारे लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं हुई, अतः हमें राष्ट्रपतीय व्यवस्था अपनानी चाहिए। समस्या इतनी सरल नहीं है। अमरीकी शैली की राष्ट्रपतीय शासन प्रणाली में कार्यपालिका अधिक स्थिर होती है क्योंकि प्रमुख कार्यपालक तथा राज्याध्यक्ष के रूप में राष्ट्रपति 4 वर्ष की अवधि के लिए चुना जाता है और उसे तभी हटाया जा सकता है जब निजी कदाचार के लिए उस पर महाभियोग चलाया जाए। फ्रांस में राष्ट्रपतीय और संसदीय मॉडलों के अंगों को मिलाकर एक नई व्यवस्था रची गई है जिसमें एक ओर मंत्रिपरिषद विधानपालिका के प्रति उत्तरदायी रहता है तथा दूसरी ओर राष्ट्रपति के रूप में न हटाए जा सकने वाली कार्यपालिका की व्यवस्था है।

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और विकास पर प्रभाव डालने वाली भारत की नवीनतम घटनाएँ इस बात को उजागर करती हैं कि आज आवश्यकता यह है कि कार्यपालिका तथा प्रशासक वर्ग जनता के प्रति अधिक उत्तरदायी हों। दूसरी ओर यह भी ज़रूरी है कि बार-बार त्रिशंकु लोक सभा अथवा विधान सभा न आएँ, अल्पमत-अल्पायु सरकारें न बनें, बार-बार निर्वाचन न कराना पड़े। स्वाभाविक है कि स्थिरता भी गंभीर चिंता का विषय है किन्तु, लोकतंत्र में सरकार के स्थायित्व से कहीं अधिक ज़रूरी है व्यवस्था और समाज का स्थायित्व। लोकतंत्र में उत्तरदायित्व के महत्व को कम करना भारत के नागरिक कभी नहीं चाहेंगे। अतः एक मात्र विकल्प यह है कि वर्तमान संसदीय प्रणाली के भीतर ही और अधिक स्थिरता सुनिश्चित करने के उपाय खोजे जाएँ। इस बारे में लगभग सभी सहमत हैं कि हमारी अर्थव्यवस्था आए वर्ष

आम चुनावों का भार नहीं सह सकती। साथ ही उनके कारण पैदा होने वाली अनिश्चितता से विकास की गति में ठहराव आ जाता है और सुशासन के लिए निश्चित कदम उठाना कठिन हो जाता है।

आवश्यकता इस बात की है कि व्यवस्थाजन्य समस्याओं की ओर ध्यान दिया जाए और संविधान के कार्यकरण में जो विसंगतियाँ आ गई हैं उन्हें ठीक किया जाए। व्यापक गरीबी, निरक्षरता, भ्रष्टाचार, राजनीति का अपराधीकरण, जातिवाद, साम्प्रदायकिता, चुनावों में धन-बल और बाहु-बल का प्रयोग, जन-जीवन में मूल्यों का ह्रास, आतंकवाद तथा विधानमण्डलों में अनुशासनहीनता जैसी समस्याओं के समाधान के लिए यदि शीघ्र ही कदम न उठाए गए तो हमारे लोकतंत्र और संविधान के लिए खतरा पैदा हो सकता है।

सांविधानिक-राजनीतिक व्यवस्था में क्या सुधार हों, सुधारों की दिशा क्या हो, इन सब विषयों पर मतवैभिन्न्य हो सकता है किंतु, संविधान के कार्यकरण पर पुनरावलोकन का यह आशय कदापि नहीं हो सकता कि संविधान को बदलना ही है अथवा कोई राष्ट्रपतीय या अन्य व्यवस्था लानी है। महत्वपूर्ण यह है कि सुधार की संभावनाएँ बंद न कर दी जाएँ। यह संसद, न्यायपालिका और बुद्धिजीवियों का दायित्व है कि आज तक के अनुभवों के आधार पर आवश्यक सुधार लाने के लिए समुचित सांविधानिक संस्थागत मार्ग खोजें। इस दिशा में इधर अनेक सुझाव दिए गए हैं।

सत्ता का केंद्रीकरण तथा परिसंघ की इकाइयों पर आधिपत्य जमाने का प्रयास अधिसंख्यक कठिनाइयों और समस्याओं-संघर्षों की जड़ है। इसलिए संघ तथा राज्यों के संबंधों का आमूलचूल पुनरीक्षण किए जाने की आवश्यकता है। इस समय सबसे आवश्यक है कि राजनीतिक सत्ता का आधार चार-स्तरीय शासन-व्यवस्था में विकेंद्रित कर दिया जाए। छोटे-छोटे राज्य तथा एक सचमुच की सार्थक संघीय शासन-व्यवस्था होने पर, विभिन्न समूहों को और निकट से शासन व्यवस्था में शामिल करना संभव हो सकता है और इससे देश भावनात्मक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से अधिक जुड़ा हुआ, संघटित और एक बन सकता है।

मज़बूत इकाइयों और मजबूत संघ के बीच कोई परस्पर विरोध नहीं है। एक सुदृढ तथा स्थिर संघीय सरकार अलगाववादी, पृथकतावादी या विघटनकारी शक्तियों की चुनौतियों का सामना करने के लिए जितनी आवश्यक है, उतनी ही मानवाधिकारों, छोटे राज्यों, अन्य इकाइयों तथा अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा करने के लिए भी आवश्यक है। सिवाय इसके कि आधारभूत संवैधानिक मूल्यों, मानवाधिकारों और विभिन्न स्तरों पर शासन करने वाली इकाइयों के पारस्परिक अधिकारों की सुरक्षा का आश्वासन देने तथा उनकी चौकसी करने और उन्हें लागू कराने की ज़िम्मेदारी संघीय प्राधिकारी की हो, शक्तियों का वितरण इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि प्रत्येक उच्चतर स्तर को केवल नितांत न्यूनतम आवश्यक शक्तियाँ और अधिकार ही दिए जाएँ। उदाहरण के लिए जो कार्य ग्राम पंचायतें या नगर पालिकाओं जैसी स्थानीय आधारी संस्थाएँ कर सकती हों, वह कार्य करने के अधिकार पूरी तरह से उन्हीं के हाथों में छोड़ दिए जाने चाहिए। उच्चतर स्तर की सरकार को निम्न स्तर की किसी भी विधिवत चुनी हुई सरकार को सत्ता से हटाने या बर्ख़ास्त करने की शक्ति नहीं होनी चाहिए।

देश को चार या पाँच क्षेत्रों तथा लगभग बराबर आकार के 40 से 50 छोटे राज्यों में विभाजित किया जा सकता है और संसद के सदनों में उनका लगभग समान प्रतिनिधित्व हो सकता है। इसके साथ ही यदि मज़बूत क्षेत्रीय परिषदें बना दी जाएँ तो परिणामस्वरूप अपेक्षाकृत अधिक स्थिरता आएगी, जवाबदेही बढ़ेगी। एक मज़बूत संघ अस्तित्व में आएगा। राज्यों का प्रशासन अधिक कुशल होगा। वयस्क मताधिकार के आधार पर सीधे चुनाव केवल पंचायतों तथा अन्य स्थानीय निकायों के लिए कराए जा सकते हैं। राज्य विधान मंडलों, संसद, राष्ट्रपति आदि के लिए निर्वाचन अप्रत्यक्ष मतदान द्वारा हो सकता है। पंचायतें, ज़िला परिषद आदि का चुनाव कर सकती हैं तथा ज़िला परिषदें राज्य विधान मंडलों का चुनाव कर सकती हैं। राज्य विधान मंडल, ज़िला परिषदें, राज्य परिषदें और पंचायतें मिलकर संसद सदस्यों

को निर्वाचित कर सकती हैं और यह सभी और संसद मिलकर राष्ट्रपति का चुनाव कर सकते हैं।

राष्ट्रपति 5 या 6 वर्ष के एक मिश्चित कार्यकाल के लिए चुना जाना चाहिए। राष्ट्रपति चुने जाने के लिए प्रत्याशी को कुल डाले गए मतों में से 50 प्रतिशत से अधिक मत और अधिसंख्य राज्यों तथा निम्न स्तरीय इकाइयों से निश्चयात्मक मत प्राप्त होने चाहिए। आधारी स्तर पर निम्नतम इकाई को एक बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र बनाया जा सकता है। इसके अलावा, वहाँ भी यह निर्धारित किया जाना चाहिए कि विजयी घोषित किए जाने के लिए प्रत्याशी को 50 प्रतिशत से अधिक मत अवश्य प्राप्त होने चाहिए ताकि हर जीतने वाले जन प्रतिनिधि के लिए, चाहे वह जिस स्तर पर हो, अपनी जीत के लिए किसी समुदाय विशेष या संकीर्ण समूह के मतों से अधिक मत प्राप्त करना तथा अपेक्षाकृत ज़्यादा लोगों की सहमति लेना आवश्यक हो जाए। इस व्यवस्था के अंतर्गत जीतने वाले प्रतिनिधि के प्रातिनिधिक चरित्र पर कोई उंगली नहीं उठाई जा सकेगी।

विकल्प के रूप में, वर्तमान अत्यधिक विभाजनात्मक व्यवस्था के स्थान पर एक बीच के मार्ग के उपयुक्त सम्मिश्रण को ले लेना चाहिए जिसमें फ्रांस की भाँति कार्यपालिका की स्थिरता तथा विधायिका के प्रति जवाबदेही सम्मिलित हो या उसके स्थान पर जर्मनी की रचनात्मक अविश्वास मत की व्यवस्था हो जिसके अंतर्गत कार्यकारी प्रमुख का चुनाव वस्तुतः पूरे सदन द्वारा किया जाए और वह तब तक पदासीन रहे जब तक सदन द्वारा उसका उत्तराधिकारी नहीं चुन लिया जाता। राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री को तथा उसके परामर्श पर अन्य मंत्रियों को नियुक्त किए जाने की वर्तमान प्रणाली के बजाय सदन के नेता के रूप में प्रधानमंत्री का निर्वाचन लोक सभा द्वारा किया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार तथा उसी समय जब लोक सभा अध्यक्ष का निर्वाचन होता है। प्रधानमंत्री को अपने मंत्री स्वयं नियुक्त करने चाहिए जिनमें एक निश्चित प्रतिशत संसद से बाहर के लोगों का होना चाहिए। प्रधानमंत्री को दो-तिहाई बहुमत द्वारा पारित रचनात्मक अविश्वास प्रस्ताव से ही हटाए जाने का प्रावधान होना चाहिए।

प्रस्तावित व्यवस्था में, सरकार बनाने के इच्छुक दल के लिए ज़रूरी होगा कि वह व्यापक सहमति तथा छोटे समूहों का समर्थन भी प्राप्त करे। अन्यथा, अनेक दल मिलकर न्यूनतम साझा कार्यक्रम के आधार पर सत्ता में आ सकते हैं। यदि संसद नई सरकार दे सकने में असमर्थ सिद्ध होती है तो राष्ट्रपति को अपनी पसंद की सरकार नियुक्त करने की छूट होनी चाहिए। ऐसी सरकार तब तक चलती रहेगी जब तक संसद दो-तिहाई मत द्वारा एक रचनात्मक अविश्वास प्रस्ताव पारित नहीं कर देती अर्थात साथ ही उत्तराधिकारी सरकार का चयन नहीं कर देती।

पेशेवर राजनीतिज्ञ अभिशाप सिद्ध हुए हैं। इसलिए विधानमंडल की सदस्यता या अन्य किसी सार्वजनिक पद का किसी के लिए पूर्णकालिक पेशा बनने पर अंकुश लगना चाहिए। किसी को भी दो कार्यकाल से अधिक समय तक किसी सार्वजनिक और राजनीतिक महत्त्व के पद पर बने रहने की अनुमति नहीं होनी चाहिए। विभिन्न पदों के लिए चुनाव लड़ने के लिए कुछ आधारभूत शैक्षिक तथा अन्य अर्हताएँ निर्धारित कर दी जानी चाहिए। आपराधिक प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों को कोई भी चुनाव लड़ने की इजाज़त नहीं होनी चाहिए। सार्वजनिक पद धारण करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को हर वर्ष अनिवार्य रूप से अपनी परिसंपत्ति की घोषणा करनी चाहिए। दल-बदल करने वाले किसी भी सदस्य को विधायक बने रहने अथवा कोई सार्वजनिक या दलीय पद ग्रहण करने की अनुमति नहीं होनी चाहिए।

राजनीतिक दलों को आधुनिकीकरण तथा लोकतांत्रिक शिक्षा का पोषक होना चाहिए। उन्हें जाति, संप्रदाय आदि संकीर्ण आधारों पर विघटनकारी या फूट डालने वाली शक्तियाँ नहीं बनने देना चाहिए। यदि हमें देश में लोकतंत्र को जीवित रखना है तो राजनीतिक दलों की संख्या को कम करना, दलों में आंतरिक लोकतंत्र सुनिश्चित करना, दलों की निधियों के स्रोतों की घोषणा, लेखाओं के परीक्षण आदि को कानूनी तौर पर अनिवार्य करार दे देना चाहिए।

हमारे संविधान के कार्यकरण की सच्ची और सार्थक समीक्षा

के लिए यह आवश्यक होगा कि वह बिल्कुल निष्पक्ष भाव से, खुले दिल और दिमाग से, सभी राजनीतिक दलगत भावनाओं से ऊपर उठकर, पहले मूल समस्याओं की पहचान कर और फिर विभिन्न सुधार विकल्पों के सुझावों का अध्ययन कर, देश के सभी भागों के, सभी दलों के तथा विभिन्न हित समूहों के बीच मतैक्य खोजने का प्रयास करते हुए की जाए। ऐसे प्रस्ताव रखे जाएं जो व्यावहारिक और सर्वमान्य हों।

सांविधानिक सुधारों की बात करने का अभिप्राय केवल संविधान में संशोधन करना अथवा राजनीतिक व्यवस्था को ही बदल डालना नहीं हो सकता। वस्तुतः सर्वाधिक वांछनीय सुधार बिना किसी सांविधानिक संशोधन के हो सकते हैं। संशोधनों से अधिक कारगर और आवश्यक होगा निर्वचन, कार्यकरण और परिपाटियों में सुधार। बहुत कुछ नियमों में अथवा साधारण विधि में कुछ संशोधन करके सुधारा जा सकता है। हो सकता है संविधान संशोधन की आवश्यकता न्यूनतम ही हो। किसी भी हालत में संविधान के मूल ढाँचे में अथवा उसके आधारभूत मूल्यों में परिवर्तन का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता और न ही उसकी कोई आवश्यकता है। प्रश्न है केवल जनता को, हर साधारण नागरिक को, सुरक्षा का विश्वास दिलाने [illegible] जन [illegible] शासकों की रुचि पुनर्स्थापित करने का और [illegible] ने में भ्रष्टाचार रहित स्वच्छ सुशासन और नागरिक-[illegible] प्रशासन कायम करने का और इस सबके लिए यदि किसी की सबसे अधिक ज़रूरत है तो वह है जागरूक नागरिक जो अपने सांविधानिक-लोकतांत्रिक अधिकारों और दायित्वों को समझें। ❑